वर्ष १४ अंक ३ अगस्त १९५६

अदिति

सह

भारत माता



अदिति कार्यालय, श्रीअरविन्द आश्रम, पांडिचेरी

जीवन में सब प्रकार के भय, संकट और विनाश के प्रति सशस्त्र होकर चलने के लिये दो ही चीजें जरूरी हैं और ये दोनों ऐसी हैं जो सदा एक साथ रहती हैं—एक भगवती माता की कृपा और दूसरी, तुम्हारी ओर से ऐसी अन्तःस्थिति जो श्रद्धा, निष्ठा और समर्पण से गठित हो।

—श्रीअरविन्द



पत्रिका का शुल्क

वार्षिक ६) एक साधारण अङ्क १।।।)

विदेश का शुल्क

वार्षिक १२।। शिलिंग एक अङ्क ३।। शिलिंग

विशेषांकों का शुल्क

श्रीअरविंद—अपने तथा श्री माताजी के विषय में (अगस्त ५४ से अगस्त ५५ तक पांच अंकों में) १०।।)

अदिति

सह

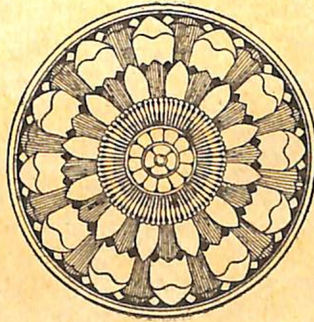
भारत माता

पचपनवीं कला

श्रीअरविन्दके जन्म-दिवस, १५ अगस्त १९५६ के उपलक्ष्य में

भारतीय संस्कृतिके आधार

(धारावाहिक–४)



अदिति कार्यालय, श्रीअरविन्द आश्रम
पांडिचेरी

*

प्रबन्ध-संपादक, श्रीकेशवदेव पोद्दार (३२ रामपार्ट रो, फोर्ट, बम्बई) तथा श्री श्यामसुन्दर झुनझुनवाला (४/१ क्लाईड रो, कलकत्ता–२२); प्रकाशक, श्री सुरेन्द्रनाथ जौहर (एस० एन० संडरसन एण्ड क०, कनाट सरकस, नई देहली)।

Le Directeur: Haradhan Bakshi, Imprimerie de Sri Aurobindo Ashram, Pondichéry.
568/56/7/1200

भारतीय संस्कृतिके आधार

३

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

(अप्रैल १९५६ के अंक से आगे)

विषय-सूची

भारतीय संस्कृतिके आधार

३

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

चौथा अध्याय

धर्म और आध्यात्मिकता

भारतीय धर्मके मूलतत्त्वों, इसके विकासके अभिप्राय तथा इसकी पद्धतिकी मूल भावना-का मैंने कुछ विस्तारसे विवेचन किया है,--यद्यपि अभीतक यह वर्णन बहुत अधूरा ही है,--क्योंकि इन चीजों की निरंतर उपेक्षा की जा रही है और इस धर्मका समर्थन तथा विरोध करने-वाले लोग ब्योरों, विशिष्ट परिणामों और गौण विषयोंपर ही लड़ते-झगड़ते रहते हैं। इन बातोंका भी अपना महत्त्व तो है क्योंकि ये क्रियात्मक अनुशीलनके, अर्थात् संस्कृतिको जीवनमें कार्यान्वित करनेके अंग हैं; किंतु इनका सही मूल्यांकन तबतक नहीं किया जा सकता जबतक हम उस मूल-भावनाको भलीभांति हृदयंगम न कर लें जो उस क्रियात्मक अनुशीलनके पीछे विद्यमान थी। और सबसे पहली बात जो हम देखते हैं वह यह है कि भारतीय संस्कृतिका मूलतत्त्व एवं सारभूत भाव असाधारण रूपसे उच्च, महत्त्वाकांक्षापूर्ण और श्रेष्ठ था, सच पूछो तो वह एक उच्चतम तत्त्व और भाव था जिसकी मानव आत्मा कल्पना कर सकती है। कारण, जीवनके विषयमें उससे महान् विचार और क्या हो सकता है जो इसे मानवात्माके अत्यंत विशाल रहस्य तथा उसकी उच्च संभावनाओंतक होनेवाले उसके एक विकासका रूप दे देता है,--उससे महान् संस्कृति और क्या हो सकती है जो जीवनको कालमें कालातीतकी, व्यक्तिमें विराट्की, सान्तमें अनन्तकी एवं मनुष्यमें भगवान्की क्रिया समझती है, अथवा जो यह मानती है कि मनुष्य सनातन और अनन्तको केवल जान ही नहीं सकता बल्कि उसकी शक्तिमें निवास भी कर सकता है और आत्मज्ञानके द्वारा अपने-आपको विश्वमय, आध्यात्मिक और दिव्य भी बना सकता है? मनुष्यके जीवनके लिये इससे बढ़कर महान् लक्ष्य और क्या हो सकते हैं कि वह आन्तर और बाह्य अनुभवके द्वारा अपना तबतक विकास-साधन करे जबतक कि वह परमेश्वरमें निवास करने, अपनी अध्यात्म-सत्ताको अनुभव करने, अपनी उच्चतम सत्ताके ज्ञान, संकल्प और आनंदमें पहुंचकर दिव्य बननेमें समर्थ न हो जाय? वास्तवमें भारतीय संस्कृतिके प्रयासका संपूर्ण आशय यही है।

यह कहना आसान है कि ये विचार मिथ्या, काल्पनिक और अव्यवहार्य हैं, वास्तवमें न तो कोई आत्मा है न सनातन सत्ता और न कोई दिव्य वस्तु ही, और यदि मनुष्य धर्म और दर्शनशास्त्रके साथ खेल न कर अपने क्षणिक एवं तुच्छ जीवन और शरीरका यथा-संभव अच्छे-से-अच्छा उपयोग करे तो यह उसके लिये कहीं अच्छा होगा। यह एक ऐसा निषेध है जो प्राणिक और भौतिक मनके लिये प्रायः स्वाभाविक ही है, पर यह इस धारणा-पर आश्रित है कि मनुष्य केवल वही बन सकता है जो कि वह इस क्षण है और उसमें ऐसी कोई महत्तर वस्तु नहीं है जिसे विकसित करना उसका कर्तव्य है; ऐसे निषेधका कोई स्थायी मूल्य नहीं है। किसी महान् संस्कृतिका संपूर्ण लक्ष्य यह होता है कि वह मनुष्यको किसी ऐसी स्थितितक उठा ले जाय जो वह आरंभमें नहीं होता, उसे ज्ञानकी ओर ले चले यद्यपि वह अथाह अज्ञानसे ही अपनी यात्रा शुरू करता है, उसे उसके विवेकके द्वारा जीवन बिताना सिखाये यद्यपि वास्तवमें वह, कहीं अधिक, अपने अविवेकके द्वारा ही जीवन यापन करता है, शुभ और एकत्वके विधानके द्वारा जीना सिखाये, यद्यपि आज वह अशुभ और वैषम्यसे ही भरा हुआ है, सुन्दरता और समस्वरताके विधानके द्वारा जीना सिखाये, यद्यपि उसका यथार्थ जीवन कुरूपता और कलहरत बर्बरताओंका घृणाजनक घोटाला ही है, उसे उसकी आत्माके किसी उच्च विधानके द्वारा जीना सिखाये, यद्यपि इस समय वह अहंभावपूर्ण. भौतिक एवं अनाध्यात्मिक है और अपनी स्थूल सत्ताकी आवश्यकताओं और कामनाओंमें ही ग्रस्त है। यदि किसी सभ्यताका इनमेंसे कोई भी लक्ष्य न हो, तो कदाचित् यह कहा ही नहीं जा सकता कि उसकी कोई संस्कृति है और निश्चय ही यह तो किसी भी अर्थमें नहीं कहा जा सकता कि उसकी एक महान् और श्रेष्ठ संस्कृति है। परंतु इनमेंसे अंतिम लक्ष्य, अपने उस रूपमें जिसकी कल्पना प्राचीन भारतने की थी, सब लक्ष्योंसे ऊंचा है क्योंकि वह अन्य सभीको अपने अंदर लिये हुए है और साथ ही उन सबसे श्रेष्ठ भी है। इस प्रयत्नको संपन्न करना जातिके जीवनको श्रेष्ठ बनाना है; इसमें असफल होना इसके लिये कभी बिल-कुल ही प्रयत्न न करनेसे कहीं अच्छा है; इसमें थोड़ी-सी भी सफलता प्राप्त करना मनुष्य-की भावी संभावनाओंके पूरा होनेमें महान् सहायता प्रदान करना है।

भारतीय संस्कृतिकी प्रणाली एक और ही वस्तु है। प्रणाली, स्वरूपतः ही, मूलभाव-को क्रियान्वित करनेवाली और साथ ही सीमित करनेवाली होती है; और फिर भी हमारे पास जीवनकी एक विद्या एवं कला, अर्थात् जीवन-यापनकी एक प्रणाली अवश्य होनी चाहिये। जरूरत केवल इस बातकी है कि जो भी रूपरेखाएं निर्द्धारित की जायं वे व्यापक और उदात्त हों, विकसित होनेकी क्षमता रखती हों जिससे कि मूल भावना अपने-आपको जीवनमें अधिकाधिक प्रकट कर सके, अपनी दृढ़ताके होते हुए भी नमनशील हों ताकि वह नयी चीजोंको अपने अंदर आत्मसात् और समन्वित कर सके तथा अपनी एकता खोये बिना अपनी विविधता और समृद्धताको विस्तारित कर सके। भारतीय संस्कृतिकी प्रणाली अपने

सिद्धांत-रूपमें और एक विशेष सीमा तथा विशेष समयतक अपने क्रियात्मक रूपमें भी यह सब कुछ थी। यह सर्वथा सत्य है कि अन्तमें उसपर एक ऐसे ह्रासका और प्रगतिके एक इस प्रकारके अवरोधका आक्रमण हुआ जो बिलकुल चरम ढंगका तो नहीं था पर उसके जीवन तथा भविष्यके लिये अत्यंत गंभीर और संकटपूर्ण अवश्य था, और हमें यह पता लगाना होगा कि आया इसका कारण इस संस्कृतिका मज्जागत स्वभाव था, या इसकी कोई विकृति थी अथवा जीवनी-शक्तिका कोई क्षणिक ह्रास था और यदि ह्रास ही कारण था तो वह ह्रास आया कैसे। इस समय मैं केवल सरसरी तौरपर एक बातकी चर्चा करूंगा जो अपना कुछ महत्त्व रखती है। हमारा आलोचक भारतके दुर्भाग्योंका राग अलापते कभी नहीं थकता और उन सबका कारण वह हमारी सभ्यताकी असाध्य बुराई तथा सच्ची और स्वस्थ संस्कृतिके नितांत अभावको मानता है। परंतु, न तो दुर्भाग्य संस्कृतिके अभावका प्रमाण होता है और न सौभाग्य उद्धारका चिह्न। यूनान एक अभागा देश था; वह आंतरिक कलहों और गृह-युद्धोंसे उतना ही क्षत-विक्षत था जितना भारत, वह अंतमें एकतापर पहुंचने या स्वतंत्रताको सुरक्षित रखनेमें असमर्थ हुआ; तथापि यूरोप अपनी आधी सभ्यताके लिये यूनानके उन लड़ाकू और विभक्त क्षुद्र लोगोंका ही ऋणी है। इटली निश्चय ही काफी अभागा था, तथापि बहुत ही कम राष्ट्रोंने यूरोपीय संस्कृतिको अयोग्य और अभागे इटलीसे अधिक अंशदान दिया है। भारतके दुर्भाग्योंको, कम-से-कम उनके प्रभावक्षेत्रकी दृष्टिसे, बहुत अधिक बढ़ा-चढ़ाकर वर्णित किया गया है, पर उन्हें उनके बुरे-से-बुरे रूपमें ही लो और मान लो कि भारतसे अधिक किसीपर मुसीबतें नहीं आयीं। परंतु इस सबका कारण यदि हमारी सभ्यताकी खराबी ही हो, तो दुर्भाग्योंके इस बोझके नीचे भारत और उसकी संस्कृति एवं सभ्यताके दृढ़तापूर्वक बचे रहनेके विलक्षण तथ्यका अथवा उस शक्तिका भला क्या कारण है जो इस क्षण भी उसे यूरोपसे आनेवाली बाढ़के, जिसने अन्य जातियोंको लगभग डुबा ही दिया है, भीषण आघातके विरुद्ध अपने अस्तित्व तथा अपनी भावनाका प्रबल समर्थन करनेकी क्षमता प्रदान करती है जिसे देखकर उसके आलोचक क्रोधसे भर उठते हैं? यदि उसके दुर्भाग्योंका कारण उसके सांस्कृतिक दोष हों तो क्या इसी प्रकारके तर्कके बलपर यह नहीं कहा जा सकता कि इस असाधारण जीवन-शक्तिका कारण उसके अंदर विद्यमान कोई महान् शक्ति, उसकी भावनाके अंदर विद्यमान कोई स्थायी सत्यता-रूपी गुण अवश्य होगा? कोई कोरा झूठ और पागलपन जीवित नहीं रह सकता; उसका बने रहना एक ऐसा रोग है जो निःसंदेह शीघ्र ही मृत्युकी ओर ले जायगा; वह किसी अविनश्वर जीवनका स्रोत नहीं हो सकता। कहीं स्वस्थताका कोई ऐसा केंद्र, कोई ऐसा रक्षक सत्य अवश्य होना चाहिये जिसने इस जातिको जीवित रखा है और जो आज भी इसे अपना सिर ऊंचा करने तथा अपने बने रहनेके संकल्पको और अपने जीवन-कार्यके प्रति अपनी श्रद्धाको दृढ़तापूर्वक प्रस्थापित करनेके लिये सामर्थ्य प्रदान करता है।

परंतु, अंतमें, हमें इस संस्कृतिके मूलभाव और मूलतत्त्वको ही नहीं, इसकी प्रणालीमें निहित इसके उद्देश्यके आदर्श विचार और क्षेत्रको ही नहीं बल्कि जीवनके मूल्योंमें इसके यथार्थ क्रिया-व्यापार और प्रभावको भी देखना होगा। यहां हमें इसकी भारी सीमाओं और भारी त्रुटियोंको स्वीकार करना होगा। ऐसी कोई संस्कृति नहीं, कोई सभ्यता नहीं, भले वह प्राचीन हो या अर्वाचीन, जो अपनी प्रणालीमें मनुष्यकी पूर्णताकी मांगके लिये पूर्ण रूपसे संतोषजनक रही हो; ऐसी एक भी संस्कृति वा सभ्यता नहीं जिसकी क्रिया-प्रक्रिया काफी अधिक सीमाओं और त्रुटियोंके द्वारा कुंठित न हो गयी हो। और किसी संस्कृतिका लक्ष्य जितना अधिक महान् होगा, किसी सभ्यताका आकार जितना अधिक विशाल होगा, उसमें ये दोष दृष्टिको उतना ही अधिक अभिभूत करनेवाले हो सकते हैं। पहली बात तो यह है कि प्रत्येक संस्कृति अपने गुणोंकी सीमाओं या त्रुटियोंसे आक्रांत रहती है और इसके निश्चितप्राय परिणामके रूपमें, अपने गुणोंकी अतियोंसे भी पीड़ित होती है। उसकी प्रवृत्ति कुछ प्रमुख विचारोंपर ध्यान एकाग्र करने और दूसरोंको दृष्टिसे ओझल करने या अनुचित रूपसे दबानेकी रहती है; संतुलनका यह अभाव एकांगी प्रवृत्तियोंको जन्म देता है जिन्हें ठीक तरहसे काबूमें नहीं रखा जाता और न उचित स्थान दिया जाता है और जो अस्वास्थ्य-कर अतियोंको पैदा करती हैं। परंतु जबतक सभ्यतामें तेज बना रहता है तबतक जीवन अपनेको उसके अनुकूल बनाता रहता है और क्षतिपूरक शक्तियोंसे अधिकसे अधिक लाभ उठाता है तथा सब स्खलनों, बुराइयों और विपत्तियोंके रहते भी कुछ महान् कार्य संपन्न हो जाता है; परंतु अवनतिके समयमें किसी एक विशेष गुणकी त्रुटि अति प्रबल हो जाती है, एक बीमारीका रूप धारण कर लेती है, व्यापक रूपमें हानि पहुंचाती है और यदि उसे रोका न जाय तो क्षय और मृत्युकी ओर ले जा सकती है। फिर, यह भी हो सकता है कि आदर्श महान् हो, यहांतक कि उसमें एक प्रकारकी सामयिक पूर्णता भी हो जैसी कि भारतीय संस्कृतिमें उसके सर्वश्रेष्ठ कालमें थी, उसने एक व्यापक सामंजस्यके लिये आरंभिक प्रयत्न भी किया हो, परंतु आदर्श और जीवनके वास्तविक व्यवहारके बीच सदैव ही एक बड़ी भारी खाई होती है। उस खाईपर पुल बांधना या कम-से-कम उसे यथासंभव छोटी बनाना मानव प्रयासका सबसे कठिन अंश है। अंतमें, हमारी मानवजातिका विकास जो युगोंके आरपार दृष्टि डालनेपर काफी आश्चर्यजनक प्रतीत होता है, सब कुछ कहे जानेके बाद भी, एक मंद और बाधाग्रस्त प्रगति है। प्रत्येक युग, प्रत्येक सभ्यता हमारी त्रुटियोंके भारी बोझको वहन करती है, बादमें आनेवाला प्रत्येक युग बोझके कुछ भागको उतार फेंकता है, पर अतीतके गुणका कुछ अंश भी खो बैठता है, अन्य खाइयां पैदा कर लेता है और नये पदस्खलनोंके द्वारा अपनेको परेशान करता है। हमें लाभ-हानिकी तुलना करनी होगी, वस्तुओंको उनके समग्र रूपमें देखना होगा, यह देखना होगा कि हम किस ओर जा रहे हैं, और एक विशाल लौकिक दृष्टिका उपयोग करना होगा; अन्यथा मनुष्यजातिकी

भवितव्यताओंमें अविचल श्रद्धा बनाये रखना कठिन हो जायगा। कारण, अंततः, अबतक सर्वश्रेष्ठ युगमें भी हमने मुख्य रूपसे जो कुछ संपन्न किया है वह है बर्बरताके एक बहुत बड़े स्तूपको परिवर्तित करनेके लिये थोड़ीसी कुछ बुद्धि, संस्कृति और आध्यात्मिकताको लाना। मनुष्यजाति अबतक भी अर्द्ध-सभ्यसे अधिक नहीं है और अपने वर्तमान विकासचक्रके अभिलिखित इतिहासमें वह इसके सिवाय और कभी कुछ नहीं रही।

और इसलिये प्रत्येक सभ्यता अपने बाह्य रूपमें मिश्रित और विशृंखल दिखायी देती है और एक द्वेषपूर्ण या सहानुभूतिहीन आलोचनाके द्वारा, जो इसके दोषोंको तो देखती और बढ़ा-चढ़ाकर दिखाती है पर इसके सच्चे भाव एवं गुणोंकी उपेक्षा करती है, अंधकारमय पहलुओंका तो एक ढेर खड़ा कर देती है पर प्रकाशमय पहलुओंको एक किनारे कर देती है, इसे बर्बरताके एक स्तूपमें, प्रायः खूब गहरे अंधकार और असफलताके एक चित्रके रूपमें परिणत किया जा सकता है, जिसपर कि उन लोगोंको उचित ही आश्चर्य होता और क्रोध आता है जिन्हें इसके मूल-भाव महान् और यथार्थ मूल्यसे युक्त प्रतीत होते हैं। क्योंकि, प्रत्येक सभ्यताने मानवताके लिये, इसके सर्वसामान्य सांस्कृतिक कार्यके अंतर्गत, कोई-न-कोई विशेष मूल्यवाली वस्तु उपलब्ध की है, हमारी प्रकृतिकी किसी-न-किसी शक्यताको बहुत बड़ी मात्रामें प्रकट किया है और इसकी भावी पूर्णताके लिये एक आरंभिक विस्तृत आधार प्रदान किया है। यूनानने बौद्धिक तर्कको तथा आकार और सुसमंजस सौंदर्य-संबंधी बोधको एक ऊंचे परिमाणमें विकसित किया; रोमने बल-सामर्थ्य, देशभक्ति और विधि-व्यवस्थाकी सुदृढ़ स्थापना की; आधुनिक यूरोपने व्यावहारिक बुद्धि, विज्ञान, कार्यदक्षता और आर्थिक क्षमताको विपुल परिमाणमें उन्नत किया; भारतने मनुष्यकी अन्य शक्तियोंपर क्रिया करने तथा उन्हें अतिक्रम करनेवाले आध्यात्मिक मन, अंतर्ज्ञानात्मक बुद्धि, धार्मिक भावसे अनुप्राणित 'धर्म' के दार्शनिक सामंजस्य तथा सनातन एवं अनंतके बोधका विकास किया। भविष्यको इन वस्तुओंकी एक अधिक महान् और अधिक पूर्ण रूपसे व्यापक प्रगतिकी ओर अग्रसर होना है और नयी शक्तियोंका विकास करना है, किंतु यह कार्य हम अहंकारपूर्ण असहिष्णुताके भावके साथ अतीतकी या अपनी संस्कृतिसे भिन्न अन्य संस्कृतियोंकी निंदा करके ठीक-ठीक रूपमें नहीं कर सकते। हमें केवल शांत आलोचनाकी भावनाकी ही नहीं बल्कि सहानुभूतिमय अंतर्ज्ञानकी एक दृष्टिकी भी आवश्यकता है ताकि हम मानवताके अतीत और वर्तमान प्रयासमेंसे उत्तम वस्तुओंका आहरण कर सकें और अपनी भावी उन्नतिके लिये उनका अच्छेसे अच्छा उपयोग कर सकें।

ऐसा होनेपर भी, यदि हमारा आलोचक आग्रह करे कि भारतकी अतीत संस्कृति अर्द्ध-बर्बर ढंगकी थी तो इसपर मुझे तबतक कुछ भी आपत्ति न होगी जबतक यूरोपीय ढंगकी संस्कृतिकी जिसे वह उसकी जगह धूर्त्ततापूर्वक हमारे ऊपर लादना चाहता है, इसी प्रकारकी, उचित या अनुचित, आलोचना करनेकी मुझे भी स्वतंत्रता प्राप्त रहे। यूरोपीय सभ्यता इस

प्रकारके मुंहतोड़ जवाबके लिये जो अवसर देती है मिस्टर आर्चर भी उन्हें अनुभव करते हैं और वे गिड़गिड़ाकर प्रार्थना करते हैं कि ऐसा जवाब न दिया जाय; वे इस घिसी हुई उक्तिकी शरण लेते हैं कि यह कहना कि 'तुम अपना चेहरा तो देख आओ'--tu quoque !--कोई युक्ति नहीं है। निःसंदेह, यदि यह केवल भारतीय संस्कृतिकी निष्पक्ष आलोचनाका प्रश्न होता जिसमें धृष्टतापूर्ण तुलनाएं और आक्रमणात्मक दावे न होते तो ऐसा जवाब देना असंगत होता। परंतु जब आलोचक एक दलमें शामिल हो जाता और यूरोपकी श्रेष्ठताके नामपर भारतीय भावना और सभ्यताके सभी दावोंको पैरों तले कुचल डालनेकी चेष्टा करता है तो यह जवाब एक सर्वथा उपयुक्त और प्रभावशाली तर्क बन जाता है। जब वह आग्रह करता है कि अनुगत शिष्योंकी तरह पश्चिमका अनुसरण और अनुकरण करनेके लिये हमें अपने 'स्वभाव' और संस्कृतिका परित्याग कर देना चाहिये और इसके लिये युक्ति यह देता है कि भारत सांस्कृतिक पूर्णताको या स्वस्थ सभ्यताके आदर्शको प्राप्त करनेमें असफल रहा है, तो हमें भी यह दिखलानेका अधिकार है कि यूरोपके खातेमें भी कम-से-कम इतनी ही भद्दी असफलता जमा है और उसकी असफलताके मूल कारण भी वही हैं जो कि भारतकी असफलताके हैं। विज्ञान, व्यावहारिक बुद्धि और कार्यकुशलता एवं अनियंत्रित आर्थिक उत्पादन ही जो मनुष्यको उसके तन और प्राणका दास, एक विशाल यंत्रका एक पहिया, एक कमानी या कंटिया अथवा आर्थिक व्यवस्था-रूपी शरीरका एक कोष बना देता है, और बांबी तथा मधुमक्खियोंके छत्तेके आदर्शको मानवीय भाषामें परिवर्तित करता है, तो हमें भी यह पूछनेका अधिकार है कि क्या यही हमारी सत्ताका संपूर्ण सत्य है और सभ्यताका स्वस्थ या संपूर्ण आदर्श है! इस यूरोपीय संस्कृतिका आदर्श, अपनी सब विघ्न-बाधाओंके होते हुए भी, कम-से-कम कोई अनुचित रूपमें बढ़ाया हुआ लक्ष्य नहीं है और उसे चरितार्थ करना प्राचीन भारतके कठिन आध्यात्मिक आदर्शकी अपेक्षा अधिक सुगम होना चाहिये। परंतु भला यूरोपीय मन और जीवनका कितना-सा अंश सचमुचमें बुद्धिके द्वारा नियंत्रित होता है और इस व्यावहारिक बुद्धि और कार्यदक्षताका अंतमें क्या परिणाम होता है? मानव मन, अंतरात्मा और जीवनको इसने किस पूर्णतातक पहुंचाया है? आधुनिक यूरोपीय जीवनकी उग्र कुरूपता, इसकी दार्शनिक बुद्धि, रसात्मक सुन्दरता और धार्मिक अभीप्साकी न्यूनता, इसकी सतत चञ्चलता, इसका कठोर और उत्पीड़क यांत्रिक बोझ, आंतरिक स्वाधीनताका अभाव, इसका हाल ही का महासंकट, भीषण वर्ग-युद्ध---ये सब ऐसी चीजें हैं जिनपर दृष्टि डालनेका हमें अधिकार है। आर्चरके साथ स्वर मिलाते हुए इन्हीं पहलुओंका राग अलापना और आधुनिक आदर्शोंके अधिक उज्ज्वल पहलूकी उपेक्षा करना निश्चय ही अन्यायपूर्ण होगा। निःसंदेह, बहुत बरस पहले एक ऐसा समय था जब यूरोपकी अतीत सांस्कृतिक उपलब्धिकी सराहना करते हुए, उसका वर्तमान व्यावसायिक रूप मुझे एक ऐसी बुद्धिप्रधान आसुरिक बर्बरता प्रतीत होता था जिसका कि जर्मनी एक अत्यंत

प्रशंसित प्रतिरूप और सफल नायक था। जगत्‌में परमात्माकी कार्य-शैलियोंको देखनेवाली एक अधिक व्यापक दृष्टि इस धारणाकी एकपक्षीयतामें संशोधन करती है, पर फिर भी इसमें एक सत्य निहित है जिसे यूरोपने अपनी तीव्र वेदनाकी घड़ीमें स्वीकार किया था, यद्यपि इस समय वह अपने उस क्षणिक आलोकको बिलकुल सहजमें ही भूला हुआ-सा प्रतीत होता है। मि. आर्चर तर्क करते हैं कि कम-से-कम पश्चिम अपनी बर्बरताके साथ संघर्ष करके उसमेंसे बाहर निकल आनेका यत्न कर रहा है जब कि भारत अपनी त्रुटियोंमें ही जड़वत् बने रहनेमें संतुष्ट रहा है। यह आसन्न भूतकालका एक तथ्य हो सकता है; पर उससे हुआ क्या? यह प्रश्न तो अब भी बना हुआ है कि क्या यूरोप ही उस एकमात्र, पूर्ण या सर्वोत्तम मार्गको अपना रहा है जो मानव प्रयासके लिये खुला हुआ है और क्या भारतके लिये यही ठीक नहीं है कि वह पश्चिमके अनुभवसे शिक्षा भले ही ग्रहण करे पर यूरोपका अनुकरण न कर अपनी मूल भावना और संस्कृतिके सबसे श्रेष्ठ और अत्यंत मौलिक तत्त्वोंको विकसित करे और इस प्रकार अपनी जड़तासे बाहर निकल आये।

इस दिशामें भारतका सही और स्वाभाविक पथ इतने स्पष्ट रूपसे हमारे सामने खुला पड़ा है कि इसका मूलोच्छेद करनेके लिये मि. आर्चरको छिद्रान्वेषकके अपने चुने हुए पेशेमें पग-पगपर सत्यको विकृत करना पड़ता है और एड़ी-चोटीका जोर लगाकर व्यर्थमें ही सम्मोहक सुझावका इंद्रजाल फिर-फिर फैलाना पड़ता है। वह इंद्रजाल अब सदाके लिये छिन्न-भिन्न हो चुका है, दीर्घ कालतक उसने हममेंसे बहुतोंको अपनी तथा अपने अतीतकी पूर्ण रूपसे निंदा करने और यह कल्पना करनेके लिये प्रेरित किया था कि जीवनमें भारतीय-का संपूर्ण कर्तव्य बस यही है कि वह सभ्य बनानेवाले अंग्रेजकी डोरमें बंधा हुआ एक अनु-करणशील बंदर बनकर उसके ढोलकी आवाजपर नाचा करे। भारतीय संस्कृतिके बचे रहने-के दावेका विरोध, सर्वप्रथम और अत्यंत मौलिक रूपमें, उसके उन मूल विचारों और उसकी उन ऊंची चीजोंके मूल्यको चुनौती देकर ही किया जा सकता है जो उसके आदर्श तथा स्व-भावके लिये और जगत्‌को देखनेके उसके तरीकेके लिये अत्यंत स्वाभाविक हैं। इसका एक तरीका है——आध्यात्मिकताके, सनातन एवं अनंतकी अनुभूति, आंतर आध्यात्मिक-अनुभव, दार्शनिक मन और भावना, धार्मिक लक्ष्य और अनुभूति, अंतर्ज्ञानात्मक बुद्धि और विश्वात्म-भाव तथा आध्यात्मिक एकताके विचारके सत्य या मूल्यसे ही इन्कार कर देना, और हमारे इस आलोचककी असली मनोवृत्ति यही है जो उसकी तीव्र निंदामें पुनःपुनः प्रकट हो उठती है। परंतु इसे वह संगत रूपमें आद्योपांत नहीं निभा सकता, क्योंकि यह उसे ऐसे विचारों और बोधोंके संघर्षमें ला खड़ा करती है जिन्हें मानव मनमेंसे जड़-मूलसे नहीं उखाड़ा जा सकता। ये विचार यूरोपमें भी कुछ कालके अज्ञानान्धकारके पश्चात् फिरसे समर्थन प्राप्त करने लगे हैं। अतएव वह अपने-आपको बचाता है और यह सिद्ध करनेकी चेष्टा करता है कि भारतमें हमें, उसके शानदार अतीत और उसकी अच्छीसे अच्छी अवस्थामें भी, कोई

आध्यात्मिकता, कोई वास्तविक दर्शन, कोई सच्चा या ऊंचा धार्मिक भाव एवं बोधि-प्रज्ञाका कोई प्रकाश नहीं दीखता, उन महान् वस्तुओंमेंसे एक भी नहीं दीखती जिन्हें उसने अपनी अत्यंत उत्कट अभीप्साका लक्ष्य बनाया है। यह स्थापना काफी मूर्खतापूर्ण, स्व-विरोधात्मक और उन लोगोंकी स्पष्ट साक्षीके विपरीत है जो इन विषयोंपर प्रामाणिक सम्मति प्रकट करनेके लिये उत्कृष्ट रूपसे योग्य और अधिकारी हैं। अतएव वह तीसरे मोर्चेकी स्थापना करता है जो कि दो असंगत और परस्पर-विरुद्ध कथनोंके मेलसे बना है; उनमेंसे प्रथम यह है कि उस उच्चतर हिन्दूधर्मका जो इन महत्तर वस्तुओंसे गठित है, भारतपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है और दूसरा यह है कि, इसके विपरीत, उसका एक अत्यंत सर्वतोव्यापी, अत्यंत अनिष्टजनक और पंगूकारक, आत्मनाशी और प्राणनाशी प्रभाव पड़ा है। अपने इस दोषा-रोपणको वह एक प्रभावशाली रूप देनेका यत्न करता है और इसके लिये वह आक्रमणकी इन सब असंगत दिशाओंको एकत्र जुटाकर इन सबसे एक ही निष्कर्ष निकालता है कि भारतकी संस्कृति सिद्धांत और व्यवहार दोनोंमें ही गलत, निकम्मी और मानवजीवनके सच्चे लक्ष्यके लिये हानिकारक है।

यह जो अंतिम स्थापना उसने की है केवल इसीपर अब हमें विचार करनेकी आवश्य-कता है, क्योंकि भारतीय संस्कृतिके मूल विचारोंका मूल्य नष्ट नहीं किया जा सकता और उनसे इन्कार करना भी निरर्थक है। जिन चीजोंका वे प्रतिनिधित्व करते हैं वे मनुष्य तथा उसकी प्रकृतिकी उच्चतम और गभीरतम गतिविधियोंमें किसी-न-किसी रूपमें विद्यमान हैं और वहां धुंधले या स्पष्ट रूपमें अपना स्वरूप उपलब्ध करनेकी चेष्टा कर रही हैं। भार-तीय संस्कृतिकी विलक्षणता केवल इस विशेषतामें निहित है कि जो चीज अन्य अधिकतर संस्कृतियोंमें अस्पष्ट या अस्तव्यस्त है या अपूर्ण रूपसे प्रकट की गयी है उसे इसने वस्तुतः अधिक स्पष्ट करने, उसकी सभी संभावनाओंकी थाह लेने, उसके पहलुओं और दिशाओंको निर्धारित करने तथा उसे मनुष्यजातिके लिये एक सच्चे, सुनिश्चित, व्यापक और व्यवहार्य आदर्शके रूपमें प्रस्थापित करनेका यत्न किया है। हो सकता है कि उसका रूप सर्वथा पूर्ण न हो; हो सकता है कि उस रूपको अभी और अधिक व्यापक बनाने, सुधारने तथा किसी और ढंगसे गढ़नेकी जरूरत हो, छूटी हुई वस्तुओंको प्रकट करने, रूपरेखाओं और आकारोंमें हेर-फेर करने, बल देने और दिशा-निर्देश करनेकी भूलोंको सुधारनेकी आवश्यकता हो; किंतु एक दृढ़, एक व्यापक आधारकी स्थापना सिद्धांत-रूपमें ही नहीं बल्कि ठोस क्रिया-त्मक रूपमें भी की जा चुकी है। यदि सचमुच जीवनमें पूर्ण असफलता ही इसके हाथ लगी हो—और यही एक बात विचारनेको रह गयी है,—तो इसका कारण इन दोमेंसे कोई एक हो सकता है; या तो जीवन जैसा है इसके तथ्योंपर आदर्शको लागू करनेमें कोई बड़ी भारी मौलिक भूल हुई है, या फिर जीवनके तथ्योंको माननेसे ही एकदम इन्कार किया गया है। तब, शायद, दूसरे शब्दोंमें, जो कुछ हम हैं उससे, पहले, अधिकसे अधिक लाभ

उठाये बिना उस चीजपर आग्रह किया गया है जो कि हम अपनी सत्ताकी किसी दुष्प्राप्य ऊंचाईपर बन सकते हैं। अनंततक हम केवल तभी पहुंच सकते हैं जब पहले हम सांतमें विकसित हो लें, कालमें विकसित होकर ही मनुष्य कालातीतको हृदयंगम कर सकता है, पहले अपने शरीर, प्राण और मनकी पूर्णता प्राप्त करके ही मनुष्य अध्यात्म-सत्ताको पूर्ण बना सकता है। यदि इस आवश्यकताकी उपेक्षा की गयी है, तब हम न्यायतः ही यह तर्क कर सकते हैं कि भारतीय संस्कृतिके प्रधान विचारमें एक मोटी, व्यवहार-विरोधी और अक्षम्य भूल हुई है। परंतु वास्तवमें ऐसी कोई भूल नहीं हुई है। हम देख ही चुके हैं कि भारतीय संस्कृतिका लक्ष्य क्या था, उसकी भावना और प्रणाली क्या थीं और उनसे यह पूर्णतया स्पष्ट हो जायगा कि उसकी प्रणालीमें जीवनके मूल्य और जीवन-संबंधी शिक्षणको यथेष्ट मान्यता दी गयी थी और इन्हें इनका उचित स्थान भी दिया गया था। यहांतक कि अत्यंत ऐकांतिक दर्शनों और धर्मों, बौद्धमत और मायावादने भी जो जीवनको एक ऐसी अनित्य या अविद्यात्मक वस्तु मानते थे जिसे अवश्य ही अतिक्रम करना और त्याग देना चाहिये, इस सत्यको दृष्टिसे ओझल नहीं किया कि पहले मनुष्यको इस वर्तमान अज्ञान या अनित्यताकी अवस्थाओंमें अपना विकास करना होगा और तब कहीं वह ज्ञान तथा उस नित्य तत्त्वको प्राप्त कर सकता है जो कालगत सत्ताका निषेध-रूप है। बौद्धधर्म केवल निर्वाण, शून्यता एवं लयका धूमिल उदात्तीकरण ही नहीं था, न वह कर्मकी क्रूर निःसारता ही था; इसने हमें मनुष्यके ऐहलौकिक जीवनके लिये एक महान् और शक्तिशाली साधना प्रदान की। समाज और आचारशास्त्रपर अनेक प्रकारसे इसका जो बड़ा भारी भावात्मक प्रभाव पड़ा और कला एवं चिन्तनको तथा कुछ कम मात्रामें साहित्यको इसने जो सृजनकी प्रेरणा प्रदान की वे इसकी प्रणालीकी प्रबल जीवनी-शक्तिका पर्याप्त प्रमाण हैं। यदि सत्ताका निषेध करनेवाले इस अत्यंत ऐकांतिक दर्शनमें यह भावात्मक प्रवृत्ति विद्यमान थी तो भारतीय संस्कृतिके समग्र स्वरूपमें यह कहीं अधिक व्यापक रूपमें उपस्थित थी।

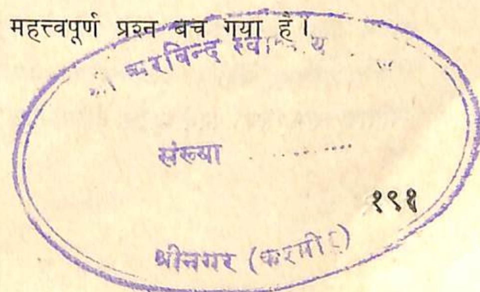
निःसंदेह, भारतीय मानसमें प्राचीन कालसे ही उस दिशामें एक उदात्त और कठोर अतिकी ओर विशेष रुझान एवं प्रवृत्ति रही है जिसे बौद्धधर्म और मायावादने ग्रहण किया था। मानवमन जो कुछ है उसके रहते यह अति अनिवार्य ही थी; बल्कि इसकी अपनी आवश्यकता एवं अपना मूल्य भी था। हमारा मन संपूर्ण सत्यको सहजमें तथा एक ही सर्वग्राही प्रयत्नके द्वारा नहीं प्राप्त कर लेता; दुःसाध्य खोज ही इसकी प्राप्तिकी शर्त है। मन सत्यके विभिन्न पहलुओंको एक दूसरेके विरोधमें खड़ा करता है, प्रत्येक पहलूका उसकी चरम संभावनातक अनुशीलन करता है, यहांतक कि कुछ समयके लिये उसके साथ एक अनन्य सत्यके रूपमें बर्ताव करता है, अधूरे समझौते करता है, नाना प्रकारके समायोजनों और अंधान्वेषणोंके द्वारा सच्चे संबंधोंके अधिक निकट पहुंचता है। भारतीय मनने इस पद्धतिका अनुसरण किया; जहांतक बन पड़ा, इसने संपूर्ण क्षेत्रको अपने अंदर समाविष्ट किया, प्रत्येक स्थितिका

परीक्षण किया, प्रत्येक दृष्टिकोणसे सत्यका अवलोकन किया, अनेक चरमावस्थाओं और अनेक समन्वयोंतक पहुंचनेका प्रयास किया। परंतु यूरोपीय आलोचक बहुत सामान्य तरीकेसे इस विचारमें ग्रस्त रहता है कि जीवनका निषेध करनेकी दिशामें यह जो अति है वही वास्तवमें भारतीय विचार और भावनाका सर्वस्व थी या फिर यही इस संस्कृतिका एकमात्र निर्विवाद सर्वोपरि विचार थी। इससे बढ़कर झूठी और गलत बात और कोई नहीं हो सकती। प्राचीन वैदिक धर्मने जीवनसे इन्कार नहीं किया बल्कि उसपर पूरा-पूरा बल दिया। उपनिषदोंने जीवनसे इन्कार नहीं किया, वरन् वे तो यह मानती थीं कि जगत् शाश्वत सत्ताकी, ब्रह्मकी अभिव्यक्ति है, यहां जो कुछ भी है वह सब ही ब्रह्म है, सब कुछ ही आत्मामें अवस्थित है और आत्मा सबमें अवस्थित है, स्वयंभू आत्मा ही ये सब पदार्थ और जीव बना है; प्राण भी ब्रह्म है, प्राण-शक्ति ही हमारे जीवनका असली आधार है, प्राण-देवता, **वायु**, व्यक्त एवं प्रत्यक्ष ब्रह्म है, **प्रत्यक्षं ब्रह्म**। परंतु उपनिषद्ने यह भी बलपूर्वक कहा कि मनुष्यकी वर्तमान जीवन-प्रणाली ही उच्चतम या पूर्ण नहीं है; उसका बाह्य मन और प्राण ही उसकी संपूर्ण सत्ता नहीं हैं; सिद्ध और पूर्ण होनेके लिये उसे अपने भौतिक और मानसिक अज्ञानको अतिक्रम कर आध्यात्मिक आत्म-ज्ञानमें वर्धित होना होगा।

बौद्धधर्म इसके बाद आया और उसने इन प्राचीन शिक्षाओंके एक ही पहलूको ग्रहण कर जीवनकी अनित्यता और सनातनकी नित्यताके बीच एक तीव्र आध्यात्मिक और बौद्धिक विरोधकी सृष्टि की जिसने वैराग्यवादीय अतिको पराकाष्ठातक पहुंचा दिया और उसे एक सिद्धांतका रूप दे डाला। परंतु समन्वयशील हिन्दू मनने इस निषेधके विरुद्ध संघर्ष किया और अंतमें बौद्धधर्मको बहिष्कृत कर दिया, यद्यपि इस दिशामें उसे एक बढ़ी हुई प्रवृत्ति मोल लेनी पड़ी। वह प्रवृत्ति शंकरके दर्शनमें, उनके मायाके उस सिद्धांतमें अपनी चरम सीमापर पहुंच गयी जिसने भारतीय मनपर अत्यंत गहरी छाप डाली और हिन्दू-जातिकी समूची जीवनी-शक्तिके उत्तरोत्तर ह्रासके समयमें ही आनेके कारण, अवश्य ही कुछ समयके लिये पार्थिव जीवनके निराशावादी और निषेधात्मक दृष्टिकोणको स्थिर करने और विशालतर भारतीय आदर्शको विकृत करनेकी चेष्टा की। परंतु उसका सिद्धांत महान् वेदांतिक शास्त्रों—उपनिषदों, ब्रह्मसूत्रों और गीतासे निकलनेवाला कोई अनिवार्य परिणाम बिलकुल नहीं है, और अन्य वेदांतिक दर्शनों एवं धर्मोंने जो इन शास्त्रों तथा आध्यात्मिक अनुभवकी सहायतासे अत्यंत भिन्न परिणामोंपर पहुंचे, इस सिद्धांतका सदा ही खंडन किया। वर्तमान समयमें, शांकर दर्शनके अल्पकालीन उत्कर्षके होते हुए भी, भारतीय चिंतन और धर्मकी अत्यंत प्राणवंत प्रवृत्तियां फिरसे अध्यात्म और जीवनके समन्वयकी ओर ही बढ़ रही हैं जो कि प्राचीन भारतीय आदर्शका एक आवश्यक अंग था। अतएव मि. आर्चरका यह तर्क कि जीवन, सृजन और कर्मके क्षेत्रमें भारतने जो कुछ भी प्राप्त किया है वह अपनी संस्कृतिके प्रभुत्वपूर्ण विचारोंके विपरीत ही प्राप्त किया है, क्योंकि तार्किक दृष्टिसे उसे जीवन, सृजन

और कर्मका परित्याग ही करना चाहिये था, उतना ही अयुक्तियुक्त है जितना कि अस्वाभाविक और भद्दा। मनुष्यकी बौद्धिक, क्रियाशील और संकल्पात्मक, नैतिक, सौंदर्यात्मक, सामाजिक तथा आर्थिक सत्ताको पूर्ण रूपसे विकसित करना भारतीय सभ्यताका एक आवश्यक अंग था,——यदि और किसी चीजके लिये नहीं तो, कम-से-कम, आध्यात्मिक पूर्णता और स्वतंत्रताके एक अनिवार्य आरंभिक साधनके रूपमें तो आवश्यक था ही। चिंतन, कला, साहित्य और समाजमें भारतकी सर्वश्रेष्ठ प्राप्तियां उसकी धर्मप्रधान दार्शनिक संस्कृतिका युक्तिसंगत परिणाम थीं।

किंतु फिर भी यह तर्क किया जा सकता है कि सिद्धांत चाहे जो भी रहा हो, उक्त अति तो विद्यमान थी ही और व्यवहारमें इसने जीवन और कर्मको निरुत्साहित किया। मि. आर्चरकी आलोचनाका, जब कि इसके अन्य असत्योंको दूर कर दिया जाता है, अंतमें यही अर्थ होता है; वह समझता है कि आत्मा, सनातन, विराट्, निर्व्यक्तिक एवं अनंतपर दिये गये बलने जीवन, संकल्प, व्यक्तित्व और मानव कर्मको निरुत्साहित किया तथा एक मिथ्या एवं जीवन-घाती वैराग्यवादको जन्म दिया। भारतको कोई महत्त्वपूर्ण प्राप्ति नहीं हुई, उसने कोई महान् व्यक्ति नहीं उत्पन्न किया, वह संकल्प और पुरुषार्थमें अक्षम था, उसका साहित्य और उसकी कला एक बर्बर, अस्वाभाविक और निःसार रचना हैं जो यूरोपकी तीसरे दर्जेकी कृतिके भी समान नहीं हैं, उसकी जीवन-कथा अयोग्यता और असफलताका एक लंबा और विषादजनक विवरण है। असंगतिकी, वह कम हो या अधिक, इस आलोचकको कोई परवा नहीं और अतएव उसी एक सांसमें वह यह भी कहता है कि ठीक वही भारत, जिसे उसने अन्यत्र सदा-दुर्बल, अनुर्वर या अद्भुत विफलताओंकी जननी कहकर वर्णित किया है, जगत्के अत्यंत मजेदार देशोंमेंसे एक है, इसकी कला एक प्रभावशाली एवं आकर्षक जादू डालती है और उसकी सुषमा असंख्य प्रकारकी है, इसकी बर्बरताएं भी अपूर्व हैं और सबसे बढ़कर आश्चर्यकी बात यह है कि इसकी प्राचीन सुविरचित कुलीनवर्गीय संस्कृतिके सदनोंमें समासीन इसके कुछ महापुरुषोंके समक्ष एक यूरोपवासी अपनेको स्वभावतः ही एक अर्द्धबर्बर आगंतुक-सा अनुभव करने लगता है! परंतु इन अनुग्रह-चिह्नोंको जो मि. आर्चरकी मनोदशाके अंधकार और विषादके आरपार कभी-कभी झलकनेवाली प्रकाशकी क्षीण रेखामात्र हैं, हम एक ओर छोड़ दें। हमें देखना यह है कि इस आलोचनाका सारतत्त्व कहांतक किसी आधारपर स्थित है। भारतीय जीवन, संकल्प, व्यक्तित्व, उपलब्धि और सृजनका, उन चीजोंका जिन्हें भारत अपनी गौरवपूर्ण वस्तुएं मानता है, पर जिनसे, उसका आलोचक उसे बताता है कि उन्हें अपने लिये अपमानजनक समझकर उसे थरथर कांपना चाहिये,——वास्तविक मूल्य क्या था? बस, अब यही एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न बच गया है।



भारतीय संस्कृतिका समर्थन

पांचवां अध्याय

धर्म और आध्यात्मिकता

क्रियात्मक परिणामोंकी दृष्टिसे भारतीय संस्कृतिपर अधिकतर जो दोष लगाया जाता है उसका निराकरण बिना किसी विशेष कठिनाईके किया जा सकता है। जिस आलोचकसे मुझे निपटना है उसने, असलमें, अपनी उन्मादपूर्ण अतिरंजनाकी भावनाके द्वारा जिसके आवेशमें वह लिखता है, अपना पक्ष बिगाड़ डाला है। यह कहना कि भारतमें जीवनकी कोई महान् या सजीव क्रियाशीलता नहीं रही है, बुद्धके काल्पनिक व्यक्तित्व और दूसरे, अशोकके निष्प्रभ व्यक्तित्वको छोड़कर भारतमें कोई और महान् व्यक्ति नहीं हुए हैं, भारतने कभी कोई संकल्पशक्ति नहीं प्रदर्शित की और कभी कोई महान् कार्य नहीं किया,——इतिहासके सारे तथ्योंके इतना विपरीत है कि केवल कोई पेशेवर छिद्रान्वेषी ही मामलेकी खोजमें इस कथनको प्रस्तुत कर सकता है या इसे ऐसे भद्दे जोशके साथ पेश कर सकता है। भारत जीवित रहा है और महानताके साथ जीवित रहा है, भले ही उसके विचारों और संस्थाओं-पर हम कोई भी मत क्यों न प्रकाशित करें। क्योंकि, आखिर जीवनका अर्थ ही क्या है और हम अत्यंत पूर्ण और महान् रूपसे जीना किसे कहते हैं? जीवन, निश्चय ही, मनुष्यकी आत्मा, उसकी शक्तियों और क्षमताओंकी एक कृति एवं सक्रिय आत्म-अभिव्यक्तिके सिवा, रहने, विचार, सृजन, प्रेम और कर्म करने तथा सफलता प्राप्त करनेके उसके संकल्पके सिवा और कुछ नहीं है। जब किसीमें इस चीजका अभाव हो अथवा, इसका नितांत अभाव चूंकि हो ही नहीं सकता अतः यूं कहना चाहिये कि जब आंतरिक या बाह्य कारणोंसे यह दबी हुई, अवरुद्ध, निरुत्साहित या जड़ बनी हुई पड़ी हो तब हम कह सकते हैं कि उसमें जीवन-का अभाव है। जीवन, अपने व्यापकतम अर्थमें, हमारे आंतरिक और बाह्य कर्मका एक महान् जाल है, शक्तिका खेल, कर्मका खेल है; धर्म, दर्शन, चिंतन, विज्ञान, काव्य और शिल्प, नाटक, संगीत, नृत्य और अभिनय, राजनीति और समाज, उद्योग, वाणिज्य और व्यापार, साहसिक कार्य और यात्रा, युद्ध और शांति, संघर्ष और एकता, विजय और परा-

जय, अभीप्साएं और उतार-चढ़ाव, विचार और भावावेग, वचन और कर्म तथा हर्ष और शोक ही मनुष्यजीवनका गठन करते हैं। अधिक संकुचित अर्थमें कभी-कभी यह कहा जाता है कि जीवन एक अधिक प्रत्यक्ष एवं बाह्य प्राणिक व्यापार है, ऐसी चीज है जो भारी-भरकम बौद्धिकता या वैराग्यात्मक आध्यात्मिकताद्वारा दबायी जा सकती है, विचारकी मद्धिम आभा या संसार-विरक्तिकी और भी मद्धिम आभासे मरियलसी बनायी जा सकती है अथवा समाजकी नियमबद्ध परंपरानुयायी या अत्यंत कठोर प्रणालीके कारण निर्जीव, नीरस एवं अप्रिय बनायी जा सकती है। और फिर, संभव है कि समाजके एक छोटे तथा विशेषाधिकार-संपन्न भागका जीवन तो अत्यंत क्रियाशील तथा वैचित्र्यपूर्ण हो, पर सर्वसाधारणका जीवन स्फूर्तिहीन, सूना और दुःखभरा हो। अथवा, अंतमें, यह भी संभव है कि कोरे जीवन-यापनके सभी साधारण करणोपकरण और परिस्थितियां विद्यमान हों, पर यदि जीवन महान् आशाओं, अभीप्साओं और आदर्शोंके द्वारा ऊंचा न उठा हो तो हम सहज ही यह कह सकते हैं कि समाज वास्तवमें जीवित नहीं है; उसमें मानव आत्माकी स्वभावगत महानताकी कमी है।

भारतके प्राचीन और मध्ययुगीन जीवनमें उन चीजोंमेंसे किसीकी भी कमी नहीं थी जो मानवजीवनकी जीवंत एवं रोचक क्रियाशीलताका गठन करती हैं। बल्कि, वह रस-रंग और आकर्षणसे असाधारण रूपमें भरपूर था। इस संबंधमें मि. आर्चरकी आलोचना अज्ञानसे आकंठ भरी हुई है और वह इस विषयकी एक कोरी कपोल-कल्पनाके द्वारा ही गढ़ी हुई है कि प्रधानतया वैराग्यवादके सिद्धांतको मानने और जगत्के मिथ्यात्वमें विश्वास करनेपर तर्कतः वस्तुस्थिति कैसी होनी चाहिये थी, पर जिस किसीने भी तथ्योंका निकटसे अध्ययन किया है वह इस आलोचनाका समर्थन नहीं करता और न कर ही सकता है। यह ठीक है कि जहां अनेक यूरोपीय लेखकोंने जिन्होंने इस देश और जातिके इतिहासका अनुशीलन किया है, वर्तमान कालसे पहलेके भारतीय जीवनकी सजीवता, आकर्षक समृद्धि, रंग-रूप और सुषमाका ओजस्वी भाषामें गुणगान किया है,——यह दुर्भाग्यकी बात है कि वह सब आज केवल इतिहास और साहित्यके पन्नों और अतीतके टूटे-फूटे या ढहते हुए खंडहरोंके रूपमें ही शेष रह गया है,——वहां जो लोग केवल दूरसे ही देखते हैं या केवल एक ही पहलूपर अपनी दृष्टि गड़ाते हैं वे बहुधा यही कहते हैं कि यह तत्त्वज्ञान, दर्शनशास्त्रों, स्वप्नों और चितापरायण कल्पनाओंका देश है, और कुछ एक कलाकार तथा लेखक एक ऐसी शैलीमें लिखनेकी प्रवृत्ति रखते हैं मानों यह 'अलफ लैला' (Arabian Nights) का देश हो, विचित्र रंगों, कल्पनाओं और आश्चर्योंकी चमचमाहट मात्र हो। परंतु इसके विपरीत भारत भी सभ्यताके अन्य किसी भी महान् केंद्रके समान ही गंभीर और ठोस वास्तविकताओंका, चिंतन और जीवनकी समस्याओंके साथ कठोर संघर्षका, मर्यादाबद्ध और बुद्धिमत्तापूर्ण संगठन तथा महत् कर्मका आगार रहा है। ये अनुभव जिन अतिभिन्न विचारोंको व्यक्त करते हैं वे केवल भारतके जीवनकी बहुमुखी उज्ज्वलता और समृद्धताके ही द्योतक हैं। रंग-रूप और

श्री-शोभा ही उसका सौंदर्यात्मक पहलू रहे हैं; उसने बड़े-बड़े स्वप्न देखे और उच्च एवं ओजस्वी कल्पनाएं की हैं, क्योंकि हमारे जीवनकी पूर्णताके लिये इस चीजकी भी जरूरत है; पर इसके साथ ही उसमें गंभीर दार्शनिक और धार्मिक चिंतन, जीवनकी व्यापक और अनुसंधानपूर्ण आलोचना, महान् राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था, प्रबल नैतिक स्वर और वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवनका अटल तेज-प्रताप––ये सब चीजें भी रही हैं। यह एक ऐसा सुसंयोग है जिसका मतलब है संपूर्ण वैभवसे युक्त जीवन, भले वह कुछ असाधारण दृष्टांतोंको छोड़कर, उन अधिक उग्र अहंकारमय विकृतियों और अतियोंसे रहित हो जिन्हें कुछ विचारक जीवनके उच्चतम बल-उत्साहका प्रमाण समझते दीखते हैं।

भला किस क्षेत्रमें भारतने प्रयास, उपलब्धि एवं सृजन नहीं किया है, और सभीमें एक विस्तृत परिमाणमें, व्योरेकी पूर्णताकी ओर अत्यधिक ध्यान देते हुए। उसकी आध्यात्मिक और दार्शनिक उपलब्धिके विषयमें तो असलमें कोई सवाल ही नहीं उठ सकता। वे यहां उसी प्रकार विद्यमान हैं जिस प्रकार, कालिदासके शब्दोंमें, हिमालय इस भूतलपर "पृथ्वीके मानदंडके रूपमें" अवस्थित है, **पृथिव्या इव मानदण्डः**, वे आजतक भी द्यौ और पृथिवीके बीच मध्यस्थता करती हैं, सांतको नापती, अपने मापक यंत्रको अनंतके अंदर दूरतक फेंकती हैं, अपने छोरोंको अतिचेतन और प्रच्छन्न-चेतन सत्ता, आध्यात्मिक और प्राकृत सत्ताके ऊर्ध्व और निम्न समुद्रोंमें निमज्जित करती हैं। परंतु, यदि उसके दर्शनशास्त्र, उसके धार्मिक साधनाभ्यास, उसके अनेकानेक महान् आध्यात्मिक व्यक्ति, विचारक, संस्थापक और संत उसकी महत्तम गरिमा हैं,––जैसा कि उसकी प्रकृति और प्रधान भावनाके लिये स्वाभाविक ही था,–तो भी ये चीजें उसकी एकमात्र गरिमा कदापि नहीं हैं और न इनकी उत्कृष्टताके कारण अन्य चीजें क्षुद्र ही हो जाती हैं। यह अब सिद्ध हो चुका है कि वर्तमान युगसे पहले उसने सायंसमें अन्य किसी भी देशकी अपेक्षा अधिक प्रगति की थी, और यहांतक कि यूरोप अपने भौतिक विज्ञानके आरंभके लिये यूनानके समान ही भारतका भी ऋणी है, यद्यपि सीधे तौरपर नहीं पर अरबोंके माध्यमके द्वारा। और चाहे उसने अन्य देशोंके समान ही प्रगति की होती तो भी एक प्राचीन संस्कृतिमें यह एक प्रबल बौद्धिक जीवनका पर्याप्त प्रमाण होता। विशेषकर, प्राचीन विज्ञानके मुख्य अंगों, गणित, ज्योतिष और रसायनमें उसने बहुत काफी तथा सम्यक् रूपसे खोज की और सिद्धांत स्थिर किये तथा तर्क या परीक्षणके बलपर कुछ एक वैज्ञानिक विचारों और आविष्कारोंकी भविष्यवाणी की जिनपर यूरोप पहले-पहल बहुत देर बाद ही पहुंचा, पर जिन्हें वह अपनी नयी और पूर्णतर विधिके द्वारा एक अधिक दृढ़ आधारपर प्रतिष्ठित करनेमें समर्थ हुआ। शल्यतन्त्रमें वह करणोपकरणोंसे सुसंपन्न था और उसकी चिकित्सा-पद्धति आज भी जीवित है तथा अभीतक अपना महत्त्व बनाये हुए है, यद्यपि बीचमें ज्ञानतः इसका ह्रास हो गया था और केवल वर्तमान समयमें ही यह अपनी जीवन-शक्तिको फिरसे प्राप्त कर रही है।

साहित्यमें, मन-बुद्धिके जीवनमें, भारतने महान् रूपमें जीवन यापन किया और निर्माण किया। इतना ही नहीं कि उसके पास वेद, उपनिषदें और गीता हैं,--इस क्षेत्रकी उन अपेक्षाकृत कम महान् पर फिर भी ओजस्वी या मनोरम कृतियोंकी हम चर्चा नहीं करते जो धार्मिक और दार्शनिक काव्यके अतुलनीय स्मारक हैं, और जिनकी कोटिकी कोई भी बड़ी और विशेष मूल्यवान् काव्य-रचना करनेमें यूरोप कभी भी समर्थ नहीं हुआ है, अपितु उसके पास वह बृहत् राष्ट्रीय कृति, महाभारत, भी है जो अपनी परिधिमें काव्यसाहित्यको संगृहीत करता है और एक सुदीर्घ निर्माणकारी युगकें जीवनको इतनी पूर्णतासे अभिव्यक्त करता है कि एक प्रसिद्ध उक्तिमें, जिसमें एक अति उपयुक्त सुभाषितकी अतिरंजनाके साथ-साथ कुछ औचित्य भी है, इसके संबंधमें यह कहा गया है कि "जो कुछ इस भारत (महाभारत) में नहीं है वह भारतवर्षमें भी नहीं है", और इसके अतिरिक्त उसके पास रामायण भी है जो अपने ढंगकी सर्वाधिक महान् और विलक्षण कविता है, वह नैतिक आदर्शवाद और वीरतापूर्ण अर्द्ध-दिव्य मानव-जीवनका अत्यंत उदात्त और सुन्दर महाकाव्य है, अपिच उसके पास अतीव सुसंस्कृत विचार, ऐन्द्रिय उपभोग, कल्पना, कर्म और साहसिक कार्यके काव्य और उपन्यासकी आश्चर्यजनक समृद्धि, पूर्णता और रंगीनी भी है जो उसके अत्युत्कृष्ट युगके उपन्यास-साहित्यका गठन करती है। और न सृजनका यह सुदीर्घ अनवरत उत्साह संस्कृत भाषाकी जीवनी-शक्तिके नष्ट होनेके साथ समाप्त ही हो गया, बल्कि उसकी अन्य भाषाओंमें, पहले तो पाली और प्राकृत,--दुर्भाग्यवश वह बहुत कुछ लुप्त हो गयी है,[1]--तथा तामिलमें और आगे चलकर हिन्दी, बंगाली, मराठी एवं अन्य भाषाओंमें महान् या सुन्दर कृतियोंका पुंज तैयार करनेमें वैसा ही उत्साह बना रहा और कार्य करता रहा। भारतकी स्थापत्य-कला, मूर्त्ति-कला और चित्रकारीकी सुदीर्घ परंपरा, तूफानी सदियोंके समस्त विध्वंसके बाद जो कुछ बचा है उसमें भी, अपनी कहानी आप ही कह रही है: पश्चिमी सौंदर्य-विज्ञानका संकीर्णतर संप्रदाय उसके विषयमें कोई भी सम्मति क्यों न स्थिर करे,--और कम-से-कम उसकी कार्यान्विति तथा कारीगरीकी सूक्ष्मतासे तथा भारतीय मनको अभि-व्यक्त करनेकी उसकी क्षमतासे इन्कार नहीं किया जा सकता--फिर भी वह कम-से-कम एक अनवरत सृजन-संबंधी क्रियाशीलताकी साक्षी देती है। और सृजन जीवनका प्रमाण है और महान् सृजन जीवनकी महानताका।

परंतु यह कहा जा सकता है कि ये सब चीजें मनकी हैं, और भारतकी बुद्धि, कल्पना-शक्ति और सौंदर्यप्रिय मन सृजनशील रूपसे सक्रिय रहे होंगे पर फिर भी उसका बाह्य जीवन तो उत्साहहीन, निस्तेज, दीन-हीन, वैराग्यके रंगोंसे धूमिल, संकल्पबल और व्यक्तित्वसे

---

[1]उदाहरणार्थ, पैशाची प्राकृतकी एक कृति जो किसी समय खूब प्रसिद्ध थी और जिसका कि 'कथासरित्सागर' एक निम्न कोटिका रूपांतर है।

शून्य, निष्प्रभाव और निष्फल ही रहा। इस स्थापनाको गलेके नीचे उतारना कठिन होगा; क्योंकि साहित्य, कला और विज्ञान जीवनकी शून्यतामें नहीं फूलते-फलते। पर यहां भी तथ्य क्या है? भारतमें केवल महान् संतों, ऋषियों, विचारकों, धर्म-संस्थापकों, कवियों, स्रष्टाओं, वैज्ञानिकों, पंडितों, विधिज्ञोंकी ही लंबी तालिका नहीं रही है; उसमें महान् शासक, व्यवस्थापक, सैनिक, विजेता, महारथी, प्रबल सक्रिय संकल्प, योजनाकुशल मन और रचनाकारी द्रष्टृ-शक्तिसे संपन्न व्यक्ति भी हुए हैं। उसने लड़ाइयां लड़ी हैं और शासन भी किया है, व्यापार किया, उपनिवेश बसाये और अपनी सभ्यताका प्रसार किया है, शासन-पद्धतियोंका निर्माण किया और जातियों तथा समाजोंका संगठन किया है, वह सब कुछ किया है जो कि महान् जातियोंकी बाह्य कर्मशीलताका गठन करता है। कोई भी राष्ट्र कर्मके उसी क्षेत्रमें अपने अत्यंत सजीव आदर्श व्यक्तियोंको आविर्भूत करनेकी प्रवृत्ति रखता है जो उसके स्वभावके अत्यंत अनुकूल हो और उसके प्रमुख विचारको प्रकट करता हो, और भारतमें महान् संत तथा धार्मिक पुरुष ही मूर्धन्य पदपर अवस्थित रहे हैं तथा महानताकी अत्यंत हृदयस्पर्शी और अविच्छिन्न नाम-परंपराको प्रस्तुत करते आये हैं, जैसे कि रोम अपने योद्धाओं, राजनीतिज्ञों और शासकोंके द्वारा ही सबसे अधिक जीवंत रहा। प्राचीन भारतमें ऋषि सर्वप्रमुख व्यक्ति होता था जिसके ठीक पीछे योद्धाका स्थान था जब कि बादके युगकी सबसे अधिक ज्वलंत विशेषता है--बुद्ध और महावीरसे लेकर रामानुज, चैतन्य, नानक, रामदास और तुकारामतक और इनसे भी आगे रामकृष्ण, विवेकानंद और दयानंदतक आध्यात्मिक पुरुषोंकी ही एक लंबी अविच्छिन्न शृंखला। पर साथ ही, प्रामाणिक इतिहासकी प्रथम उषासे लेकर जो चंद्रगुप्त, चाणक्य, अशोक एवं गुप्तवंशी सम्राटोंके प्रभावशाली व्यक्तित्वोंसे आरंभ होती है और मध्य युगके अनेकानेक, प्रसिद्ध हिन्दू और मुस्लिम व्यक्तित्वोंमेंसे होती हुई बिलकुल आधुनिक युगतक पहुंचती है, राजनीतिज्ञों और शासकोंके रूपमें भी अद्भुत सफलताएं प्राप्त हुई हैं। प्राचीन भारतमें गणतंत्रों, अल्प-जन-राज्यों, जनतंत्रों तथा छोटे-छोटे राज्योंका जीवन था जिनका कोई भी ऐतिहासिक ब्योरा अब शेष नहीं है; उनके बाद हम देखते हैं साम्राज्य-निर्माणका दीर्घकालीन प्रयत्न, सीलोन और समुद्री द्वीपसमूहोंका उपनिवेशीकरण, पठान और मुगल राजवंशोंके उत्थान और पतनसे संलग्न तीव्र संघर्ष, दक्षिणमें जीवित रहनेके लिये हिन्दुओंका संघर्ष, राजपूती वीरताका आश्चर्यजनक इतिवृत्त, महाराष्ट्रमें समाजके निम्नतम स्तरोंतक व्यापी हुई राष्ट्रीय जीवनकी भारी उथल-पुथल, सिक्खोंके खालसा संप्रदायकी विलक्षण गाथा। उस बाह्य जीवनका यथोचित चित्रण करना अभी बाकी है; एक बार चित्रित कर दिये जानेपर वह अनेक मिथ्या कल्पनाओंका अंत कर देगा। यह सब विपुल कार्य-कलाप किन्हीं ऐसे आदमियोंके द्वारा नहीं संपन्न किया गया था जो मन, संकल्प और जीवन-शक्तिसे रहित थे, मानवताकी ऐसी निस्तेज छायाओंके द्वारा नहीं किया गया था जिनमें ऊर्जस्वी मनुष्यत्वको विषादमय और सर्व-विनाशक वैराग्यवादके

बोझके नीचे कुचल डाला गया था, न ही यह स्वप्नविलासियोंकी एक ऐसी जातिका चिह्न प्रतीत होता है जिसकी मनोवृत्ति दार्शनिक हो और जो जीवन तथा कर्मका विरोध करती हो। वे कोई घास-फूसके पुतले या निर्जीव एवं संकल्पशून्य मिट्टीके घोंघे या निःशक्त स्वप्न-विलासी नहीं थे जिन्होंने इस प्रकार कर्म किया, योजनाएं बनायीं, विजयें प्राप्त कीं, प्रशासन-की महान् प्रणालियोंका निर्माण किया, राज्य और साम्राज्य स्थापित किये, काव्य, कला और स्थापत्यके महान् आदर्शोंके रूपमें विख्यात हुए अथवा, आगे चलकर, वीरताके साथ विजातीय राज्यसत्ताका सामना किया और जाति या राष्ट्रकी स्वतंत्रताके लिये युद्ध किया। और न वह कोई जीवन-रहित राष्ट्र ही था जिसने अपनी सत्ता और संस्कृतिको सुरक्षित रखा और अबतक जीवित बना रहा तथा निरंतर विरोधी परिस्थितियोंके नित बढ़ते हुए दबावके कारण सर्वदा नया-नया जीवन प्राप्त करता रहा। भारतका वर्तमान धार्मिक, सांस्कृतिक, राज-नीतिक पुनरुज्जीवन जिसे अब कभी-कभी नवजागरण कहा जाता है और जो उसके आलो-चकोंके मनको इतना व्याकुल और व्यथित करता है, परिवर्तित अवस्थाओंमें, उपयुक्त रूपमें, अभीतक कम सजीव पर महत्तर क्रियासमूहमें, उसी चीजकी पुनरावृत्ति मात्र है जो भारतीय इतिहासमें एक सहस्र वर्षतक पुनः-पुनः घटित होती रही है।

और यह स्मरण रखना होगा कि अपनी संस्कृति और प्रणालीके बलपर सारेके सारे राष्ट्रने सार्वजनीन जीवनमें भाग लिया। निःसंदेह, अतीतमें सभी देशोंमें जनसाधारणने कुछ अल्पसंख्यक लोगोंकी अपेक्षा कम सक्रिय और कम जीवंत शक्तिके साथ,—यहांतक कि कभी-कभी तो पूर्ण समृद्धिके किसी आरंभिक प्रकारके आरंभके साथ भी नहीं, बल्कि जीवनके केवल प्राथमिक उपादानोंके साथ,—जीवन यापन किया है; और आधुनिक सभ्यता भी इस विषमतासे अभीतक छुटकारा नहीं पा सकी है, यद्यपि उसने मौलिक जीवन, चिंतन और ज्ञानके लाभों या कम-से-कम आरंभिक अवसरोंको एक अधिक बड़े जनसमुदायके लिये सुलभ कर दिया है। परंतु प्राचीन भारतमें, यद्यपि उच्चतर वर्ग ही नेतृत्व करते थे और जीवनके शक्ति-सामर्थ्य एवं ऐश्वर्य-वैभवका बहुत बड़ा भाग उन्हींके अधिकारमें था, तथापि आम लोग भी इधर कुछ समय पहलेतक कुछ छोटे परिमाणमें ही सही पर सबल रूपमें और एक अधिक विस्तृत पर कम केंद्रीभूत शक्तिके साथ जीवन यापन करते थे। उनका धार्मिक जीवन किसी अन्य देशके धार्मिक जीवनकी अपेक्षा अधिक गंभीर था; दार्शनिकोंके विचारों और संतोंके प्रभावका रसास्वादन वे अद्भुत सुगमताके साथ करते थे; उन्होंने बुद्धके तथा उनके बाद जो बहुतसे महापुरुष आये उनके उपदेशका श्रवण और अनुसरण किया; उन्होंने संन्यासियोंसे शिक्षा ग्रहण की और वे भक्तों तथा बाउलों (Bouls)[1] के गाने गाते थे और इस प्रकार कभी भी रचित अत्यंत कोमल और कमनीय काव्य-साहित्यकी कुछ संपदा

[1]बंगालके बाउल संप्रदायके भक्त एवं कीर्तनकार बाउल कहलाते हैं।—अनु०

उनके पास थी; हमारे धर्मके महत्तम व्यक्तियोंमेंसे अनेक उन्हींकी देन थे, और शूद्रोंमेंसे भी संत प्रकट हुए जिनका सम्मान सारा समाज करता था। प्राचीन हिन्दू युगमें उन्हें राजनीतिक जीवन और शक्तिका अपना हिस्सा प्राप्त था; वे ही जनसाधारण थे, वेदमें वर्णित '**विशः**', थे, जिनके कि राजागण नेता होते थे और उनसे तथा पवित्र या राजकीय वंशोंसे ऋषियोंका जन्म हुआ था; वे अपने ग्रामोंको छोटे-छोटे स्व-शासित गणराज्योंके रूपमें अपने अधिकारमें रखते थे; महान् राज्यों और साम्राज्योंके युगमें वे नगरपालिकाओं और पौर-परिषदोंके सदस्य होते थे और राजनीति-विज्ञानके ग्रंथोंमें जिस विशिष्ट राज-परिषद्‌का वर्णन मिलता है उसका बहुत बड़ा भाग सर्वसाधारण लोगों, वैश्योंसे ही गठित था, ब्राह्मण पंडितों और अभिजात क्षत्रियोंसे नहीं; दीर्घकालतक वे, किसी लंबे संघर्षकी जरूरत पड़े बिना, एक ही बार अपनी अप्रसन्नता प्रकट करके अपने राजाओंपर अपनी इच्छा लादनेमें समर्थ रहे। जबतक हिन्दू राज्योंका अस्तित्व रहा, ये सभी चीजें कुछ अंशमें जीवित रहीं, और निरंकुश स्वेच्छाचारी शासनके मध्य-एशियाई रूपोंके, जो भारतकी स्वदेशीय उपज कदापि नहीं थे, भारतमें प्रविष्ट होनेपर भी उस पुरानी व्यवस्थाका कुछ अंश बचा रहा। कला और काव्यमें भी जनसाधारण भाग लेते थे, ये उनके ऐसे साधन थे जिनके द्वारा भारतीय संस्कृतिका सार संपूर्ण जनतामें प्रसारित होता था, प्राचीन समयके महान् विश्वविद्यालयोंके अतिरिक्त प्रारंभिक शिक्षाकी उनकी अपनी एक प्रणाली थी, लोकप्रिय नाटय-प्रदर्शनका अपना एक ढंग था जो देशके कुछ भागोंमें अभी कलतक जीवित था; उन्होंने भारतको उसके कलाकार और स्थापत्यवेत्ता तथा जनभाषाओंके अनेक प्रसिद्ध कवि प्रदान किये; उन्होंने अपनी अतीत चिरंतन संस्कृतिके बलपर एक स्वभावगत सौंदर्यात्मक भावना और क्षमताको सुरक्षित रखा जिसका कि भारतीय कारीगरका कार्य एक अविच्छिन्न और प्रभावशाली प्रमाण रहा जबतक कि वह रसात्मक भावना और सौंदर्यके भद्दे बन जाने और क्षीण होनेके कारण विनष्ट या विकृत ही नहीं हो गया जो कि आधुनिक सभ्यताका एक अन्यतम परिणाम हुआ है। और न भारतका जीवन वैराग्य, निराशा या विषादसे भरा हुआ था, जैसा कि आलोचकका अति तर्कशील मन इसे मानना चाहेगा। इसका बाह्य रूप अन्य देशोंकी अपेक्षा अधिक शांत है, इसमें परदेसियोंके सामने एक विशेष प्रकारकी गंभीरता और संयम देखा जाता है जो विदेशी पर्यवेक्षकको धोखेमें डालता है, और हालके युगमें इसपर वैराग्य, दारिद्रय, तथा अतिनैतिक प्रवृत्तिकी वृद्धिका प्रभाव पड़ा है; परंतु देशके साहित्यमें चित्रित जीवन प्रसन्न और प्राणवंत है, और यहांतक कि आज भी स्वभावकी कुछ विविधताओं और विषाद उत्पन्न करनेवाली अनेकों शक्तियोंके होते हुए भी, जीवनके उतार-चढ़ावोंमें हास-परिहास, विनम्र नमनीयता और समचित्तता भारतीय चारित्र्यके अत्यंत स्पष्ट लक्षण हैं।

अतएव यह सारा सिद्धांत ही कि भारत जातिमें अपनी संस्कृतिके परिणामस्वरूप जीवन, इच्छाशक्ति और क्रियाशीलताका अभाव है, एक कल्पना है। जिन परिस्थितियोंने पीछेके

युगमें इसपर अपना कुछ रंग चढ़ाया है उनका अपने उपयुक्त प्रसंगमें उल्लेख किया जायगा; पर वे ह्रास-कालका एक अंग हैं, और उस अवस्थामें भी उन्हें काफी देख-भालकर ही ग्रहण करना होगा, परंतु इसकी अतीत महानताका कहीं अधिक लंबा इतिहास एक बिलकुल दूसरी ही कहानी सुनाता है। वह इतिहास यूरोपीय ढंगसे लिपिबद्ध नहीं किया गया है; कारण, यद्यपि भारतमें इतिहास और जीवन-चरितकी कलाकी सर्वथा उपेक्षा नहीं की गयी पर इसका विकास भी पूर्ण रूपसे कभी नहीं किया गया, न कभी इसका पर्याप्त रूपसे अनुशीलन ही किया गया, और न काश्मीरके एक अकेले दृष्टांतको छोड़कर और कहीं भी मुस्लिम राजवंशोंसे पहलेके राजाओं, महापुरुषों और प्रजाजनोंके कार्यकलापका कोई स्थिर अभिलेख ही बचा हुआ है। यह निश्चय ही एक त्रुटि है और इसके कारण एक बहुत गहरी खाई बन गयी है। भारतने बहुल रूपमें जीवन यापन तो किया है, पर वह अपने जीवनके इतिहासको लेखबद्ध करने नहीं बैठा। उसकी आत्मा और मन अपने महान् स्मारक छोड़ गये हैं, परंतु उसकी शेष चीजों, अधिक बाह्य चीजोंके बारेमें हम जितना कुछ जानते हैं---और आखिर वह कम नहीं है---वह उसकी अपनी लापरवाहीके बावजूद भी जैसे-तैसे बचा रह गया है या हालमें ही प्रकट हो उठा है; जो सही अभिलेख उसके पास थे उन्हें उसने जीर्ण-शीर्ण होकर विस्मृत या विलुप्त हो जाने दिया है। मि. आर्चर जब हमें बताते हैं कि हमारे इतिहासमें कोई भी महान् व्यक्ति देखनेमें नहीं आते तब शायद असलमें उनका मतलब यह होता है कि वे उनकी समझमें नहीं आते क्योंकि उनके कथन और कार्यकलाप पश्चिमी शैलीकी न्याईं सूक्ष्मताके साथ लेखबद्ध नहीं मिलते; उनका व्यक्तित्व, संकल्प-बल एवं सृजनशक्ति केवल उनके कार्य या सांकेतिक परंपरा और उपाख्यानमें अथवा अपूर्ण अभिलेखोंमें ही प्रकट होती है। और एक अत्यंत विचित्र एवं मनमानी बात यह है कि इस दोषका कारण जीवनके प्रति रुचिके वैराग्यमूलक अभावको माना गया है; ऐसा माना जाता है कि भारत 'सनातन'में इतना अधिक तल्लीन था कि उसने समयकी जानबूझकर उपेक्षा और अवहेलना की, वैराग्यपूर्ण चिंतना तथा निवृत्तिमार्गीय शांतिके अनुसरणमें इतना गंभीर रूपसे एकाग्र था कि उसने कर्मकी स्मृतिको तुच्छताकी दृष्टिसे देखा और उसमें कोई दिलचस्पी नहीं ली। यह एक और मिथ्या गाथा है। सुरक्षित और सुविचारित अभिलेखके अभावकी ऐसी ही बात अन्य प्राचीन संस्कृतियोंमें भी दृष्टिगोचर होती है, परंतु कोई भी आदमी यह नहीं कहता कि भारतकी भांति और वैसे ही कारणसे पुरातत्त्वविदोंको हमारे लिये मिस्र, असीरिया या फारसका पुनर्निर्माण करना होगा। यूनानके प्रतिभाशाली विद्वानोंने, उसकी कर्मपरताके पिछले युगमें ही सही, इतिहासकी कलाका विकास किया, और यूरोपने उस कलाको पाला-पोसा और सुरक्षित रखा है; भारत तथा अन्य प्राचीन सभ्यताएं इसतक नहीं पहुंचीं या फिर उन्होंने इसके पूर्ण विकासकी उपेक्षा की। यह एक दोष अवश्य है, पर इस बातका कोई कारण नहीं कि इस एक मामलेके कारण ही हम अपना रास्ता छोड़कर यह मानने

लगें कि किसी निश्चित उद्देश्यसे या जीवनके प्रति दिलचस्पीका किसी प्रकारका अभाव होने-के कारण ही ऐसा किया गया। और इस दोषके होते हुए भी, भारतके अतीतका अनु-संधान अद्यावधि-उपलभ्य सामग्रीकी बृहत् राशिको जितना ही अधिक अनावृत करता है उतना ही अधिक उसके अतीत जीवनकी महानता एवं कर्मठता स्वयमेव प्रकट हो उठती है तथा कहीं अधिक उभरकर हमारे सामने उपस्थित हो जाती है।

परंतु इसपर भी हमारा आलोचक यह कहना चाहेगा कि भारतने मानों अपने स्वभावके विरुद्ध जीवन यापन किया और इस सब प्रचुर कर्मके अंदर वैयक्तिक संकल्पको खर्ब करने तथा किसी महान् विशिष्ट व्यक्तित्वके अभावका पुष्कल प्रमाण विद्यमान है। इस परिणामपर वह उन तरीकोंसे पहुंचता है जिनमें आलोचककी निष्पक्ष मनोवृत्तिके बजाय पत्रकार या पैम्फ्लिट-बाजकी चतुराईकी गंध पायी जाती है। उदाहरणार्थ, वह हमें बताता है कि भारतने विश्व-के महान् पुरुषोंके दलमें केवल एक या अधिक-से-अधिक दो ही महान् नाम प्रदान किये हैं। निश्चय ही, इससे उसका अभिप्राय यूरोपके महान् व्यक्तियोंके दलसे है, या विश्वके महान् व्यक्तियोंके ऐसे दलसे है जिसकी परिकल्पना यूरोपके मनने की है और जिसमें वह अपने प्रिय एवं सुपरिचित, पश्चिमी इतिहास और कृतित्वसे संबंध रखनेवाले विख्यात व्यक्तियोंके नाम ठूंस-ठूंसकर भर देता है और सुदूरपूर्वके अधिक विराट्-विशाल नामोंमेंसे बहुत थोड़ोंको ही स्वी-कार करता है जिनकी उपेक्षा करना उसे अत्यंत कठित प्रतीत होता है। यहां हमें उस सूचीकी याद हो आती है जिसे एक महान् फ्रेंच कविने साहित्यके क्षेत्रमें तैयार की थी जिसमें फ्रेंच नामोंकी एक अंतहीन तालिका शेष यूरोपके सभी कवियोंकी नामावलिके बराबर ही या उससे भी अधिक लंबी थी! यदि कोई भारतीय उसी भावनाके साथ उस कार्यमें प्रवृत्त हो तो निःसंदेह वह उसी प्रकार भारतीय नामोंकी एक अंत-रहित सूची बना डालेगा जिसमें यूरोप और अमरीका, अरब, फारस, चीन और जापानके कुछ महान् साहित्यकारोंके नाम इस विशाल प्रायद्वीपीय शरीरकी छोटी-सी दुमकी तरह लटक रहे होंगे। पक्षपातपूर्ण मनो-वृत्तिकी इन कसरतोंका कोई मूल्य नहीं। और यह पता लगाना कठिन है कि जब मि. आर्चर, अन्य महान् भारतीय नामोंको द्वितीय श्रेणीमें फेंककर, केवल तीन या चार नामोंको ही स्थान देते हैं और वहां भी उन्हें उनके समकक्ष अमर यूरोपीय नामोंकी तुलनामें नीचा दिखाते हैं तो वे मूल्योंके किस मानदंडका प्रयोग करते हैं। शिवाजी, जिनका जीवन एवं चरित्र प्राणवंत और मनोरंजक था और जिन्होंने केवल एक राज्यकी स्थापना ही नहीं की बल्कि एक जातिको संगठित भी किया, किस बातमें क्रामवेल (Cromwell) से हीन ह, अथवा शंकर, जिनकी महान् आत्माने अपने मर्त्य जीवनके कुछ ही वर्षोंमें सारे भारत-की दिग्विजय कर डाली और उसके निवासियोंके समस्त धार्मिक जीवनका पुनर्निर्माण कर डाला, एक व्यक्तित्वके रूपमें किस बातमें लूथरसे कम हैं? क्यों चाणक्य और चंद्रगुप्त, जिन्होंने भारतमें साम्राज्य-निर्माणका रूप निर्धारित किया और जिनकी महान् प्रशासनिक

पद्धति कुछ परिवर्तनोंके साथ--बहुधा उसे विकृत करनेवाले परिवर्तनोंके साथ--आधुनिक युग-तक जीवित रही, यूरोपीय इतिहासके शासकों और राजनीतिज्ञोंसे हीन व्यक्ति हैं? संभव है कि भारत अपने जीवनके किसी वैसे व्यस्त समयका इतिहासबद्ध विवरण न प्रस्तुत कर सके जैसे कि एथेन्सके कुछ एक वर्ष थे जिनकी मि. आर्चर दुहाई देते हैं; संभव है कि, बहुतसे मनोरंजक, पर प्रायः ही उपद्रवजनक और अविश्वसनीय, यहांतक कि दुर्वृत्त और विद्रोही व्यक्तियोंका जो दल नवजागरणके समयके इटलीके नगरोंकी कहानीको अलंकृत और कलुषित करता है, उसकी तुलनाके व्यक्ति भारतके पास न हों, यद्यपि उसके भी अपने अत्यंत व्यस्त समय रहे हैं जिनमें एक भिन्न श्रेणीके व्यक्तियोंकी भरमार थी। परंतु उसमें अनेक शासक, राजनीतिज्ञ और कलाके प्रोत्साहक हुए हैं जो अपने ढंगसे वैसे ही महान् थे जैसे पेरिक्लीज या लोरेंजो दि मेदिसी; उसके ख्यातनामा कवियोंके व्यक्तित्व कालके कुहासेमेंसे अधिक धुंधले रूपमें ही प्रकट होते हैं, पर वे ऐसे संकेतोंको लिये हुए हैं जो एक उच्च आत्मा या एक ऐसी महान् मानवताकी ओर निर्देश करते हैं जैसी एसकिलस या यूरिपिडीजकी थी अथवा एक ऐसी जीवन-कथाकी ओर संकेत करते हैं जो वैसी ही मानवीय और मनोरंजक थी जैसी इटलीके ख्यातिप्राप्त कवियोंकी। और यदि इस एक ही देशकी सारे यूरोपके साथ तुलना की जाय जैसा कि मि. आर्चर आग्रह करते हैं,--मुख्यतः इस आधारपर कि स्वयं भारतवासी जब अपने देशके विस्तार और इसकी अनेक जातियोंकी तथा उस कठिनाईकी चर्चा करते हैं जो उन्हें भारतकी एकताको संगठित करनेमें इतने दीर्घ-कालतक अनुभव हुई है, तो वे भी ऐसी ही तुलना करते हैं,--तब संभव है कि राजनीतिक और सामरिक कार्यके क्षेत्रमें यूरोप चिरकालसे अग्रणी दिखायी दे, पर महान् आध्यात्मिक व्यक्तियोंकी उस अतुल बहुलताका क्या होगा जिसमें भारत अग्रगण्य है? और फिर, मि. आर्चर सर्जनशील भारतीय मनके द्वारा सृष्ट महत्त्वपूर्ण पात्रोंके बारेमें जिनसे कि उसका साहित्य और उसके नाटक भरे हुए हैं, उद्धततापूर्ण निंदाके साथ चर्चा करते हैं। यहां भी उनकी बातको समझ पाना या मूल्यों-संबंधी उनके मानदंडको स्वीकार करना हमारे लिये कठिन है। कम-से-कम पूर्वीय मनके लिये राम और रावण वैसे ही सजीव, महान् और वास्तविक पात्र हैं जैसे कि होमर और शेक्सपीयरके पात्र, सीता और द्रौपदी निश्चय ही हेलेन और क्लिओपाट्रासे कम जीवंत नहीं हैं, दमयंती और शकुंतला तथा स्त्रीजातिकी आदर्शभूत अन्य देवियां ऐलसेस्टिस या डेसडेमोनासे जरा भी कम मधुर, कमनीय एवं सजीव नहीं हैं। मैं यहां उनकी किसी प्रकारकी उत्कृष्टताकी स्थापना नहीं कर रहा हूं, पर यह आलोचक जिस अतल असमानता और हीनताकी स्थापना करता है वह यथार्थ रूपमें नहीं, बल्कि केवल उसकी कल्पना या उसके देखनेके तरीकेमें ही विद्यमान है।

शायद यही है एकमात्र महत्त्वपूर्ण चीज, एकमात्र वस्तु जो वास्तवमें ध्यान देने योग्य है, अर्थात् मनोवृत्तिका यह भेद जो इन तुलनाओंके मूलमें वर्तमान है। सचमुचमें देखा

जाय तो, जीवन या शक्तिकी या क्रिया-प्रतिक्रिया करनेवाले संकल्पकी कोई भी हीनता विद्यमान नहीं है, बल्कि मानव प्रकृतिकी समानतामें जहांतक गुंजाइश है वहांतक नमूने, स्वभाव, और व्यक्तित्वका विभेद है, अथवा यूं कहें कि विभिन्न और लगभग उलटी दिशाओंपर एक प्रकारका अधिक बल दिया गया है। भारतमें संकल्पशक्ति और व्यक्तित्वका अभाव नहीं रहा है, वरन् वह दिशा जो इन्हें अधिक वांछनीय रूपमें प्रदान की गयी है तथा जिस नमूने-की सर्वाधिक सराहना की गयी है वे भिन्न प्रकारके हैं। औसत यूरोपीय मन एक अहंकार-मय या आत्म-व्यापक संकल्पको जो प्रबल या साहसपूर्ण तथा उग्र, यहांतक कि कभी-कभी भीषण आग्रहके साथ अपने अस्तित्वपर बल देता है, महत्त्व प्रदान करने या कम-से-कम उस-में अधिक दिलचस्पी लेनेकी प्रवृत्ति रखता है; भारतीय मानस शांत, अपने-आपको वशमें करनेवाले अथवा यहांतक कि अपने-आपको मिटा देनेवाले व्यक्तित्वको नैतिक दृष्टिबिंदुसे, जो कि सर्वत्र पाया जाता है,—केवल अधिक मूल्यवान् ही नहीं मानता बल्कि उसमें अधिक जीवंत रुचि भी रखता है; क्योंकि अहंको मिटाना उसे सच्चे व्यक्तित्व और इसकी महान-ताके मूल्य एवं शक्तिको मिटाना नहीं वरन् बढ़ाना प्रतीत होता है। मि. आर्चरको अशोक निस्तेज और वैशिष्ट्यहीन मालूम होते हैं; भारतीय मनके लिये वे अत्यंत सतेज और आकर्षक हैं। शार्लमान्य या, यह कहें कि कान्स्टैन्टाइन की तुलनामें अशोकको निस्तेज क्यों कहना चाहिये? क्या इसका कारण यह है कि उन्होंने केवल अपनी रक्तपातपूर्ण कलिंग-विजयकी ही चर्चा की है ताकि वह अपने पश्चात्ताप तथा अपनी आत्माके परिवर्तनकी बात कह सकें, जो एक ऐसी भावना है जिसे शार्लमान्य, अच्छा ईसाई बनानेके लिये सैक्सनोंका संहार करता हुआ जरा भी न समझ सकता, और न शायद उसे अभिषिक्त करनेवाला पोप ही उससे कुछ अधिक समझ सकता? कान्स्टैन्टाइनने ईसाई धर्मको विजय दिलायी, पर उसके व्यक्तित्वमें ईसाईपन जरा भी नहीं है; अशोकने बौद्धधर्मको केवल सिंहासनपर प्रति-ष्ठित ही नहीं किया, अपितु बुद्धके द्वारा प्रतिपादित मार्गका अनुसरण करनेका भी यत्न किया, यद्यपि इसमें वह पूर्ण रूपसे सफल नहीं हुए। और भारतीय मन उन्हें कान्स्टैन्टाइन या शार्लमान्की अपेक्षा केवल एक श्रेष्ठतर-संकल्पशाली पुरुषके रूपमें ही नहीं बल्कि एक अधिक महान् और आकर्षक व्यक्तित्वके रूपमें भी आदृत करेगा। भारत चाणक्यमें रुचि अवश्य रखता है, पर उससे कहीं अधिक रुचि चैतन्य महाप्रभुमें रखता है।

और यथार्थ जीवनकी ही तरह साहित्यमें भी उसकी ऐसी ही प्रवृत्ति है। यह यूरोपीय मन राम और सीताको अरुचिकर और अवास्तविक अनुभव करता है, क्योंकि वे अति धर्मात्मा, अति आदर्शमय, अति उज्ज्वल चरित्रवाले हैं; परंतु भारतीय मनके लिये, समस्त धार्मिक भावनाको एक ओर रख देनेपर भी, वे एक अत्यंत आकर्षक सद्वस्तुकी साकार मूर्त्तियां हैं जो हमारी सत्ताके अंतरतम तंतुओंको आकर्षित करती हैं। एक यूरोपीय विद्वान् महा-भारतकी आलोचना करता हुआ उस महान् काव्यमें बलशाली और उग्र भीमको ही एकमात्र

सच्चा पात्र अनुभव करता है; इसके विपरीत, भारतीय मन अर्जुनकी शांत-स्थिर वीरतामें, युधिष्ठिरके उत्तम नैतिक स्वभावमें, कुरुक्षेत्रके दिव्य सारथिमें जो अपने अधिकारके लिये नहीं बल्कि धर्म और न्यायके राज्यकी स्थापना करनेके लिये कर्म करते हैं, एक अधिक महान् पात्रके दर्शन करता है तथा एक अधिक मार्मिक आकर्षण अनुभव करता है। जो उग्र या अहंख्यापक अथवा अपनी वासनाओंकी आंधीके साथ उड़नेवाले पात्र यूरोपीय महा-काव्य और नाटकके मुख्यतः रुचिकर विषय हैं उन्हें वह या तो दूसरी श्रेणीमें डाल देगा अथवा, यदि वह उन्हें एक विशाल आकार-प्रकारमें प्रस्तुत करेगा भी तो वह उन्हें इस प्रकार स्थान देगा कि अधिक उच्च कोटिके व्यक्तित्वकी महानता उभरकर सामने आ जाय, जैसे कि रावण रामके विपरीत गुणोंका प्रदर्शन करता है तथा उसे अधिक आकर्षक बना देता है। जीवनविषयक सौंदर्यविज्ञानमें इनमेंसे एक प्रकारका मन तड़क-भड़कवाले व्यक्तित्वकी सराहना करता है और दूसरे प्रकारका मन तेजस्वी व्यक्तित्वकी। अथवा, स्वयं भारतीय मन इनमें जो भेद करता है उसकी परिभाषामें कहें तो, एक प्रकारके मनकी रुचि राजसिक संकल्प और चरित्रमें अधिक केंद्रित रहती है और दूसरेकी सात्त्विक संकल्प और चरित्रमें।

आया यह भेद भारतीय जीवन और सृजन-संबंधी सौंदर्य-विज्ञानपर हीनताको थोपता है या नहीं इस बातका निर्णय हर एकको अपने-आप करना होगा, परंतु इतना निश्चित है कि इस विषयमें भारतीय विचार अधिक विकसित एवं अधिक आध्यात्मिक है। भारतीय मनका विश्वास है कि सत्ताके राजसिक या अधिक रंजित अहंकारी स्तरसे सात्त्विक और अधिक प्रकाशमय स्तरकी ओर बढ़नेसे संकल्प और व्यक्तित्व हीन नहीं बल्कि उन्नत होते हैं। आखिरकार, क्या स्थिरता, आत्म-प्रभुत्व, और उच्च संतुलन संकल्पबलके निरे आत्म-प्रस्थापन या आवेगोंकी उग्र प्रताड़नाकी अपेक्षा चरित्रकी अधिक महान् एवं अधिक वास्तविक शक्तिके चिह्न नहीं हैं? इन गुणोंके होनेका यह अर्थ नहीं है कि मनुष्यको अपना कार्य एक हीनतर या कम सबल संकल्पके साथ करना होगा बल्कि केवल एक अधिक यथार्थ, स्थिर-शांत संकल्पके साथ करना होगा। और यह सोचना गलत है कि स्वयं वैराग्यवादको यदि ठीक तरहसे समझा जाय उसका ठीक तरहसे अनुसरण किया जाय तो उसका अर्थ संकल्पशक्तिको मिटा देना ही होता है; सच पूछो तो वह संकल्पबलकी एक अधिक महान् एकाग्रताको जन्म देता है। यही भारतीय दृष्टिकोण और अनुभव है और महाकाव्योंकी उन प्राचीन पौराणिक कथाओंका अर्थ भी यही है,--जिनपर मि. आर्चर, उनके पीछे निहित विचारको गलत रूपमें समझनेके कारण, तीव्र आक्षेप करते हैं, पर जो यह बतलाती हैं कि वैराग्यपूर्ण आत्म-प्रभुत्व अर्थात् तपस्याके द्वारा प्राप्त बलमें, जब कि उसका दुरुपयोग भी किया गया तब भी, बहुत बड़ी सामर्थ्य निहित है। भारतीय मनका विश्वास था और अब भी है कि आत्मबल अधिक बाह्य एवं भौतिक रूपमें कार्य करनेवाली संकल्पशक्तिकी अपेक्षा महत्तर वस्तु है, वह संकल्पके एक बलवत्तर केंद्रसे कार्य करता है और उसके परिणाम भी अधिक महान् होते हैं। परंतु यहां यह कहा

जा सकता है कि भारतने निर्व्यक्तिकको अत्यधिक मूल्य प्रदान किया है और यह चीज, स्पष्टतः ही, व्यक्तित्वको निरुत्साहित करती है। परंतु इसमें भी,——समाधिमें या सनातनकी नीरवतामें अपने-आपको खोनेके अभावात्मक आदर्शको छोड़कर, जो कि इस विषयका असली सार नहीं है,——एक भ्रांत धारणा निहित है। यह बात चाहे कितनी ही विरोधा-भासी क्यों न प्रतीत हो, मनुष्य सचमुचमें अनुभव करता है कि अपनी सत्ता और कर्मके पीछे सनातन एवं निर्व्यक्तिकको स्वीकार करना और उसके साथ एकत्वके लिये प्रयत्न करना ही ठीक वह चीज है जो व्यक्तिको उसकी विशालतम महानता और शक्तितक ले जाती है। क्योंकि, यह निर्व्यक्तिकता सत्ताका अभाव नहीं वरन् उसकी सागर-सम समग्रता है। पूर्णता-प्राप्त मनुष्य, सिद्ध कहिये या बुद्ध, विश्वमय हो जाता है, वह सहानुभूति और एकताके भाव-में भूतमात्रका आलिंगन करता है, अपनी ही तरह दूसरोंमें भी अपने-आपको अनुभव करता है और साथ ही, ऐसा करके वह विश्व-शक्तिकी अनंत सामर्थ्यका कुछ अंश अपने अंदर आहरण कर लेता है। यही भारतीय संस्कृतिका भावात्मक आदर्श है। और जब यह विरोधी आलोचक इस "सु-रचित कुलीनवंशीय" संस्कृतिसे प्रादुर्भूत कुछ एक महान् व्यक्ति-योंकी श्रेष्ठताका सम्मान करनेके लिये अपनेको बाध्य अनुभव करता है तो वह वास्तवमें राजसिक मनुष्यकी अपेक्षा सात्त्विक, तथा सीमित एवं अहंभावपूर्ण मनुष्यकी अपेक्षा विश्वमय मानवकी इस पसंदगीके कुछ एक परिणामोंकी ही स्तुति कर रहा होता है। साधारण मनुष्य, अर्थात् असंस्कृत, प्राकृत या अर्द्ध-विकसित मनुष्य न बने रहना ही, सचमुचमें इस प्राचीन प्रयासका अर्थ था और इस अर्थमें इसे एक कुलीनवंशीय संस्कृति कहा जा सकता है। परंतु इसके आत्म-अनुशासनका लक्ष्य सामान्य बाह्य नहीं वरन् आध्यात्मिक कुलीनता था। भारतीय जीवन, व्यक्तित्व, कला और साहित्यको इसी प्रकाशमें परखना होगा और उन्हें भारतीय संस्कृतिके वास्तविक अर्थमें एवं उसकी ठीक समझके साथ देखकर ही उनकी प्रशंसा या निंदा करनी होगी।

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

छठा अध्याय

भारतीय कला

भूतकालमें पश्चिमने भारतीय सभ्यताकी, अधिकतर इसके सौंदर्यात्मक पक्षकी, विद्वेषपूर्ण और सहानुभूतिरहित आलोचना की है और उस आलोचनाने इसकी ललित कलाओं, स्थापत्य, मूर्तिकला और चित्रकलाकी घृणापूर्ण या तीव्र निंदाका रूप ग्रहण किया है। एक महान् साहित्यकी संपूर्ण रूपमें और अविवेकपूर्वक निंदा करनेमें मि. आर्चरको कोई अधिक समर्थन नहीं मिलेगा, परंतु यहां भी यदि उसने प्रत्यक्ष आक्रमण नहीं किया है तो इसे समझनेमें वह अत्यधिक असफल अवश्य हुआ है : पर भारतीय कलापर किये गये आक्रमणमें उसकी आवाज अनेक विरोधपूर्ण आवाजोंमेंसे अंतिम तथा सबसे उग्र है। किसी जातिकी संस्कृतिका यह सौंदर्यात्मक पहलू परम महत्त्व रखता है और अपने मूल्यांकनके संबंधमें लगभग उतनी ही सूक्ष्म परीक्षा और सतर्कताकी अपेक्षा करता है जितनी की कि दर्शन, धर्म और केंद्रीय रचनात्मक विचार जो कि भारतीय जीवनके आधार रहे हैं और जिनकी कि अधिकांश कला एवं साहित्य अर्थपूर्ण सौंदर्यात्मक रूपोंमें एक सचेतन अभिव्यक्ति है। सौभाग्यवश, भारतीय मूर्त्तिकला और चित्रकला-संबंधी भ्रांति दूर करनेके लिये बहुत-सा काम पहले ही किया जा चुका है और, यदि वही काफ़ी होता तो, मैं मि. हॉवेल (Havell) और डा. कुमारस्वामीके ग्रंथोंका या जिन अन्य लोगोंपर पूर्वीय कृतिके पक्षमें पहलेसे अनुकूल मत रखनेका आरोप नहीं लगाया जा सकता, उनकी काफी समझदारीके साथ लिखी हुई पर जानकारी और पैठमें अपेक्षाकृत कम गहरी आलोचनाओंका हवाला दे करके ही संतुष्ट हो जाता। किंतु भारतीय संस्कृतिके मूल प्रेरक-भावोंके विषयमें कोई भी पूर्ण विचार बनानेके लिये प्राथमिक तत्त्वोंका एक अधिक व्यापक और अनुसंधानपूर्ण विवेचन करना आवश्यक है। मैं मुख्यतया भारतके उन नयी विचारधाराके लोगोंसे अपील कर रहा हूं जो दीर्घ कालतक विदेशी शिक्षा, दृष्टिकोण और प्रभावके कारण पथभ्रांत रहनेके बाद अपने अतीत और भविष्यके संबंधमें फिरसे स्वस्थ और सच्चे विचारकी ओर मुड़ रहे हैं; परंतु इस क्षेत्रमें

उनका यह परिवर्तन जैसा व्यापक, पूर्ण या प्रकाशमय होना चाहिये वैसा होनेमें अभी बहुत कसर है। अतएव पहले मैं अपनेको भ्रांतिके कारणोंके विवेचनतक ही सीमित रखूंगा और उसके बाद भारतीय सौंदर्यात्मक सृजन-कार्यके सच्चे सांस्कृतिक अर्थपर विचार करूंगा।

मि. आर्चरने अपनी अंध आग्रहपूर्ण नीतिका अनुसरण करते हुए इस विषयपर एक पूरे-का-पूरा अध्याय लिख मारा है। यह अध्याय बहुत व्यापक निंदाकी एक बाढ़ जैसा है। परंतु उसके आक्रमणको एक गंभीर आलोचना समझना और सब बातोंका विस्तारपूर्वक उत्तर देना समय गंवाना होगा। भारतीय कलाके समर्थकों और प्रशंसकोंको उसने जो जवाब दिया है वह अद्‌भुत रूपसे छिछला और क्षुद्र है, अधिकांशमें वह तुच्छ, दुर्बल और कहीं-कहीं तो असंगत बातों, बड़े-बड़े निर्लज्जतापूर्ण विशेषणों और प्रबल रूपमें निरर्थक पदावलियोंसे गठित है, बाकी बातोंमें वह भ्रांतिपर या आध्यात्मिक अनुभवों और दार्शनिक विचारोंका अर्थ समझनेमें उसकी एक ऐसी निपट असमर्थतापर आधारित है जो कि धार्मिक भावना और दार्शनिक मनोवृत्तिके नितांत अभावकी द्योतक है। निःसंदेह मि. आर्चर युक्तिवादी और दर्शनके निंदक हैं और उन्हें इन त्रुटियोंका अधिकार है; पर जिन चीजोंके मर्ममें मनुष्य पैठ ही नहीं सकता उनपर निर्णय देनेका वह भला यत्न ही क्यों करे और रंगोंपर व्याख्यान देनेवाले अंधे आदमीका-सा दृश्य ही क्यों उपस्थित करे? मैं एक-दो उदाहरण दूंगा जिनसे यह पता चल जायगा कि उनकी आलोचना किस किस्मकी है और वे ठीक जिन बातोंपर जोर देनेका यत्न करते हैं उन्हें कोई निश्चयात्मक मूल्य प्रदान करनेसे इन्कार करनेकी बात भी काफी हदतक उचित सिद्ध हो जायगी, हां, उन बातोंका इतना मूल्य अवश्य है कि वे आक्षेपकर्ताओंके मनोविज्ञानपर प्रकाश डालती हैं।

पहले मैं एक ऐसा उदाहरण दूंगा जिसकी निरर्थकतापर अत्यंत आश्चर्य होता है। पुरुष-शरीरकी आकृतिके संबंधमें जो भारतीय आदर्श है वह अनेक विशेषताओंके बीच दोपर विशेष आग्रह करता है, कंधोंका विशेष चौड़ापन और मध्यभागका पतलापन। हां तो, कमरके घेरेकी चौड़ाई और पेटकी विशालतापर––जिनकी छूट केवल वहीं दी जाती है जहां वे उपयुक्त होती हैं जैसे गणेश या यक्षोंकी मूर्तियोंमें––जो आपत्ति की जाती है वह भारतीय सौंदर्यात्मक भावनाकी ही कोई निजी विशेषता नहीं है; इनके विरोधी गुणोंपर बल देना, यहांतक कि स्पष्ट रूपमें बल देना एक सौंदर्यात्मक परंपराके रूपमें, निश्चय ही, समझमें आने लायक बात है, भले कुछ लोगोंको मानव आकृतिका एक अधिक यथार्थवादी एवं समृद्धिशाली चित्रण ही अधिक पसंद हो। परंतु भारतीय कवियों और अधिकारी कलाकारोंने इस संबंधमें सिंहकी उपमा दी है, और मजा देखिये तो सही, मि. आर्चर इस रूपकपर गंभीरतापूर्वक व्याख्यान झाड़ते हैं कि यह इस बातका स्पष्ट प्रमाण है कि भारतके लोग अर्द्ध-जंगली अवस्थासे अभी-अभी बाहर निकले थे! यह तो बस बिलकुल ही स्पष्ट है कि उन्होंने वीरतापूर्ण पुरुषत्वका आदर्श अपने आदि निवासस्थान जंगलसे, थिरिओलेट्री अर्थात्

जंगली पशुओंकी पूजासे लिया था!! मैं समझता हूं इसी सिद्धांतके अनुसार और इसी प्रकारकी स्तंभित करनेवाली बुद्धिमत्ताके साथ वह सीताके नेत्रोंकी आभा और गहराईके लिये कंबनद्वारा दिये गये समुद्रके रूपकमें और भी अधिक आदिम जंगलीपन तथा जड़ प्रकृतिकी बर्बर पूजाकी स्पष्ट साक्षी देखेगा, अथवा वाल्मीकिके द्वारा किये गये अपनी नायिकाकी 'मदिरा-सी आंखों', **मदिरेक्षणा**, के वर्णनमें भारतीय कवि-मानसकी पुरानी मदोन्मत्तता और अर्द्ध-मत्त स्फुरणाका प्रमाण पायगा। मि. आर्चरकी अत्यंत हृदयग्राही युक्तियोंका यह केवल एक उदाहरण है। यह कोई अनूठा नमूना नहीं है यद्यपि यह चरम कोटिका है, और इस विशेष युक्तिकी मूर्खता ही इस प्रकारकी आलोचनाकी तुच्छताको प्रकट कर देती है। यह उस सामान्य आपत्तिसे मिलती-जुलती है जो बंगाली चित्रकारोंको प्रिय लगनेवाले दुबले-पतले हाथ-पांवोंपर की जाती है और जिसे कि हम कभी-कभी उनकी कृतिकी सबल निंदाके रूपमें प्रस्तुत किये जाते हुए सुनते हैं। एक औसत मनुष्यमें जिससे कि आधुनिक संस्कृतिके उच्च विधानके अधीन यह आशा नहीं की जाती कि कलाके विषयमें उसे कोई ज्ञानपूर्ण धारणा होगी, इस बातको क्षम्य समझा जा सकता है,--उसकी स्वाभाविक गुणग्राहिताको तो पहले ही निर्विघ्न रूपसे मार डाला और दफनाया जा चुका है। परंतु एक माने हुए आलोचकके बारेमें हम क्या कहेंगे जो उन सब चीजोंका इस प्रकारका अर्थ देनेके लिये गभीरतर उद्देश्योंकी उपेक्षा करके ब्योरोंपर ही दृष्टि गड़ाता है?

परंतु इस आलोचनामें अधिक गंभीर और महत्त्वपूर्ण आक्षेप भी हैं; क्योंकि मि. आर्चर कलाके दर्शनपर विचार करनेमें भी प्रवृत्त होते हैं। भारतीय कलात्मक सृजनका संपूर्ण आधार जो कि पूर्णतया सचेतन और शास्त्रसम्मत है, प्रत्यक्षतः ही आध्यात्मिक और अंतर्ज्ञानात्मक है। मि. हॉवेल, इस मूल विशेषतापर ठीक ही बल देते हैं और प्रसंगवश बुद्धिकी अपेक्षा प्रत्यक्ष अनुभवकी पद्धतिकी अनंत उत्कृष्टताका उल्लेख करते हैं; यह एक ऐसी स्थापना है जो युक्तिवादी मनको स्वभावतः ही चोट पहुंचानेवाली है, यद्यपि प्रमुख पश्चिमी विचारक अब इसका अधिकाधिक समर्थन कर रहे हैं। मि. आर्चर तुरंत ही एक अत्यंत भुथरे गंडासेसे इसपर आघात शुरू करते हैं। इस मार्मिक विषयपर वे किस ढंगसे विचार करते हैं? एक ऐसे ढंगसे जो असली बातको तो सर्वथा छोड़ देता है और कलाके दर्शनसे जिसका कुछ भी संबंध नहीं है। मि. हॉवेलने बुद्धके सर्वश्रेष्ठ अंतर्ज्ञानका न्यूटनके महान् अंतर्ज्ञानके साथ जो संबंध जोड़ा है, मि. आर्चर उसपर अपनी दृष्टि गड़ाते हैं और इनके साम्यपर आक्षेप करते हैं क्योंकि ये दोनों उपलब्धियां ज्ञानकी दो विभिन्न श्रेणियोंसे संबंध रखती हैं, एक तो अपने स्वरूपमें वैज्ञानिक एवं भौतिक है और दूसरी मानसिक या चैत्य, आध्यात्मिक या दार्शनिक। वे अपनी (आक्षेपोंकी) घुड़सालसे उसी पुराने आक्षेपका घोड़ा दौड़ाते हैं कि न्यूटनका अंतर्ज्ञान एक लंबी बौद्धिक प्रक्रियाका ही अंतिम पगमात्र था जब कि इस प्रत्यक्षवादी मनोविज्ञानी और दार्शनिक आलोचकके अनुसार बुद्ध तथा अन्य

भारतीय ज्ञानियोंके अंतर्ज्ञान किसी भी प्रकारकी बौद्धिक प्रक्रिया या किसी भी परखे जा सकनेवाले अनुभवपर आधारित नहीं थे। परंतु इसके विपरीत, यह एक सीधा-सा तथ्य है जो इस विषयका कुछ भी ज्ञान रखनेवालोंको भलीभांति विदित है कि बुद्ध तथा अन्य भारतीय दार्शनिकोंके निष्कर्ष (इस समय मैं उपनिषदोंके उस अंतःप्रेरित विचारकी बात नहीं कर रहा हूं जो अंतर्ज्ञान तथा विज्ञानसे आलोकित शुद्ध आध्यात्मिक अनुभव था) संबद्ध मनोवैज्ञानिक तथ्योंकी अत्यंत सूक्ष्म छानबीन तथा एक ऐसी तार्किक प्रक्रियाके बाद निकाले गये थे, जो, निश्चय ही, युक्तिवादीय तो नहीं थी पर चिंतनकी किसी भी अन्य प्रणालीकी तरह ही बुद्धिसंगत थी। अपने खंडनको वे इस बुद्धिमत्तापूर्ण टिप्पणीके द्वारा संपुष्ट करते हैं कि ये अंतर्ज्ञान जिन्हें वे कल्पनाएं कहना पसंद करते हैं एक दूसरेके विरोधी हैं और अतएव, ऐसा जान पड़ता है कि, अपनी निरर्थक दार्शनिक सूक्ष्मताको छोड़कर और किसी प्रकारका मूल्य नहीं रखते। क्या हम यह परिणाम निकालें कि पाश्चात्य वैज्ञानिकोंके द्वारा किया गया स्थूल विषयोंका धैर्यपूर्ण अध्ययन, उनके सावधानतापूर्ण बौद्धिक तर्क और निष्कर्ष जिन्हें कठिनाईके साथ सत्य सिद्ध किया जा सकता है, किन्हीं भी विपरीत या परस्पर-विरोधी परिणामोंपर नहीं पहुंचे हैं? इस मापदंडके अनुसार कोई यह कल्पना कभी नहीं कर सकता कि आनुवंशिकताका ज्ञान विरोधी "कल्पनाओं"से जर्जरित हो रहा है अथवा 'देश' तथा उसपर पड़नेवाली आकर्षण-शक्तिके प्रभावके विषयमें न्यूटनकी "कल्पनाओं"को आज उसी क्षेत्रकी आइन्स्टीनकी "कल्पनाओं" के द्वारा उलट दिये जानेका खतरा है। यह तो एक गौण बात है कि मि. आर्चर बुद्धके अंतर्ज्ञान-संबंधी अपने विचारमें गलतीपर हैं जब कि वे कहते हैं कि बुद्ध एक विशेष प्रकारके वैदांतिक अंतर्ज्ञानको अस्वीकार कर देते, क्योंकि बुद्धने चरम-परम कारणको न तो स्वीकार किया न अस्वीकार, बल्कि केवल उसपर विचार करनेसे ही सर्वथा इन्कार कर दिया। उनका अंतर्ज्ञान दुःखका कारण, वस्तुओंकी अनित्यता और अहं, कामना तथा संस्कारके लयके द्वारा मुक्ति––इन सत्योंतक ही सीमित था, और जहांतक उन्होंने जाना पसंद किया, वहांतक उनका यह लय, अर्थात् निर्वाणसंबंधी अंतर्ज्ञान और वेदांतका परम एकत्व-विषयक अंतर्ज्ञान दोनों आध्यात्मिक अनुभवके एक ही सत्यका दर्शन थे। इसमें संदेह नहीं कि वे दृष्टिके विभिन्न कोणोंसे देखे गये थे तथा विभिन्न बौद्धिक रूपोंमें प्रकट किये गये थे, पर उनका अंतर्ज्ञानात्मक सारतत्त्व एक ही था। शेष सब बुद्धके कठोर रूपसे व्यावहारिक उद्देश्यके लिये विजातीय था। यह सब हमें हमारे विषयके क्षेत्रसे बहुत दूर ले जाता है, परंतु हमारे आलोचकका मन अद्भुत रूपसे उलझा हुआ है और उनका अनुसरण करना पथभ्रष्ट होनेका दोषी बनना है।

यहांतक तो हुई अंतर्ज्ञानके विषयमें मि. आर्चरकी बात। कलाके प्रथम मूलतत्त्वोंपर उसकी समालोचनाका स्वरूप यही है। क्या यह बताना वस्तुतः आवश्यक है कि यह हो सकता है कि मन या आत्माकी शक्ति तो एक ही हो और वह विभिन्न क्षेत्रोंमें भिन्न-भिन्न

प्रकारसे कार्य करे? अथवा, एक प्रकारके अंतर्ज्ञानकी तैयारी लंबे बौद्धिक शिक्षणके द्वारा संपन्न हो सकती है, पर वह इसे बौद्धिक प्रक्रियाका अंतिम पग नहीं बना देती, जैसे कि इंद्रियोंकी क्रिया पहले होनेके कारण वह बौद्धिक तर्कणाको इंद्रियानुभूतिका अंतिम पग नहीं बना देती? तर्कबुद्धि इंद्रियोंको अतिक्रम कर जाती है और हमें सत्यके अन्य एवं सूक्ष्मतर स्तरोंमें प्रवेश प्रदान करती है; इसी प्रकार अंतर्ज्ञान तर्कबुद्धिको अतिक्रम कर जाता है और हमें सत्यकी अधिक साक्षात् एवं ज्योतिर्मय शक्तिमें प्रवेश प्रदान करता है। परंतु यह अत्यंत स्पष्ट है कि अंतर्ज्ञानके प्रयोगमें कवि और कलाकार ठीक उसी प्रकारकी कार्य-धारा-का अवलंबन नहीं कर सकते जिस प्रकार कि वैज्ञानिक या दार्शनिक। लिओनार्दो दा वैंसी (Leonardo da Vinci) के सायंस-संबंधी अद्‌भुत अंतर्ज्ञान और कला-विषयक सर्जन-शील अंतर्ज्ञान एक ही शक्तिसे निकले, किंतु उनके चारों ओरकी या अवांतर मानसिक क्रियाएं भिन्न गुण-धर्म और भिन्न रंग-रूपकी थीं। स्वयं कलामें भी भिन्न-भिन्न प्रकारके अंतर्ज्ञान होते हैं। शेक्सपीयरका जीवन-परिदर्शन अपने स्वरूप और साधनोंमें बालजक या इब्सनके पर्यवेक्षणसे भिन्न है, परंतु देखनेकी प्रक्रियाका सारभूत भाग जो इसे अंतर्ज्ञानात्मक रूप देता है, एक ही है। वस्तुओंका बौद्ध एवं वैदांतिक अवलोकन कलात्मक सृजनके लिये एकसमान शक्तिशाली आरंभबिन्दु हो सकते हैं, वे एकको बुद्धकी शांतिकी ओर या दूसरेको शिवके आनंद-नृत्य या उनकी महिमाशाली निश्चलताकी ओर ले जा सकते हैं, और कलाके उद्देश्योंके लिये इसका कुछ महत्त्व नहीं कि इनमेंसे किसको तार्किक दृष्टिसे महत्त्व देनेकी ओर दार्शनिकका झुकाव हो सकता है। ये सब आरंभिक विचार हैं। और इसमें कोई आश्चर्य नहीं जो इनकी उपेक्षा करनेवाला आदमी भारतकी सूक्ष्म और ओजस्वी कला-त्मक कृतियोंको गलत ढंगसे समझे।

मि. आर्चरके आक्रमणकी दुर्बलता, इसकी व्यर्थकी हुल्लड़बाजी और उग्रता तथा इसके सार पदार्थकी क्षुद्रताके कारण हमें उस मानसिक दृष्टिकोणके जिससे कि भारतीय कलाके संबंधमें उनकी घृणा उत्पन्न होती है, अत्यंत वास्तविक महत्त्वके प्रति अंधे नहीं बन जाना चाहिये। क्योंकि, उस दृष्टिकोण और उससे उत्पन्न होनेवाली घृणाकी जड़ उनसे अधिक गहरी और किसी चीजमें है, अर्थात् संपूर्ण सांस्कृतिक शिक्षण और जन्मजात या उपार्जित स्वभावमें तथा जीवनके प्रति मूल मनोवृत्तिमें है और, यदि अपरिमेयको भी मापा जा सकता हो तो, वह दृष्टिकोण उस खाईकी चौड़ाई मापता है जो अभी हालतक पूर्वी और पश्चिमी मनको तथा, सबसे अधिक, वस्तुओंको देखनेके यूरोपीय और भारतीय ढंगको पृथक् करती थी। भारतीय कलाके प्रेरक-भावों और उसकी पद्धतियोंको समझनेमें असमर्थता और उससे घृणा या अरुचि कलतक यूरोपके मनमें प्रायः सर्वत्र देखनेमें आती थी। इस विषयमें अपनी प्रथम चिरप्रचलित धारणाओंसे बंधे हुए सामान्य मनुष्य और संस्कृतिके विभिन्न रूपोंका मूल्यांकन करनेकी शिक्षा पाये हुए योग्य आलोचकके बीच भेद नहींके बराबर था। खाई

इतनी अधिक चौड़ी थी कि तबतक बना हुआ कोई भी सांस्कृतिक सेतु उसे पाट नहीं सकता था। यूरोपीय मनके लिये भारतीय कला एक बर्बर, अपरिपक्व एवं विकराल वस्तु थी, मानवजातिके आदिम जंगलीपन और अक्षम शैशवसे उठी हुई एक अवरुद्ध प्रगति थी। यदि अब कुछ परिवर्तन हुआ है तो उसका कारण यह है कि यूरोपीय संस्कृतिका क्षितिज एवं दृष्टिकोण अद्भुत रूपसे एकाएक विस्तृत हो गया है, यहांतक कि वह अपनी दृष्टिमें आने-वाली वस्तुओंको जिस दृष्टिबिंदुसे देखने और परखनेकी आदी थी उसमें भी कुछ परिवर्तन आ गया है। कलाके विषयोंमें पश्चिमी मन दीर्घकालतक यूनानी और नवजागरण-कालीन परंपराके अंदर मानों एक कारागारमें ही बंद रहा, बादकी मनोवृत्तिने उस परंपरासे मुक्त होनेके लिये कल्पनाप्रधान और यथार्थवादी प्रेरक-भावोंके केवल दो पार्श्व-कक्ष बनाकर उसे कुछ संशोधित किया, परंतु ये उसी इमारतके पार्श्वमात्र थे; क्योंकि आधार वही था और एक ही मूल नियम इनके विभेदोंको संयुक्त करता था। यह परंपरागत अंधविश्वास कि प्रकृतिका अनुकरण ही कलाका पहला विधान या सीमाकारी नियम है, स्वतंत्रसे स्वतंत्र कृति-को भी नियंत्रित करता था और कलात्मक तथा आलोचनात्मक बुद्धिको अपना पुट देता था। पाश्चात्य कलात्मक सृजनके नियमोंको एकमात्र सही कसौटियां माना जाता था और अन्य प्रत्येक वस्तुको आदिम एवं अर्ध-विकसित या फिर विचित्र एवं काल्पनिक और केवल अपनी विचित्रताके कारण ही मनोरंजक समझा जाता था। परंतु एक अद्भुत परिवर्तन आरंभ हो गया है, यद्यपि अभीतक अधिकांशमें पुराने विचारोंका ही प्रभुत्व है। कारागृह यदि टूटा नहीं है तो उसमें, कम-से-कम, एक चौड़ी दरार जरूर हो गयी है; एक अधिक नम-नीय दृष्टि एवं अधिक गभीर कल्पनाने पुरानी, मज्जागत मनोवृत्तिपर अपने-आपको स्थापित करना आरंभ कर दिया है। इसके परिणामके रूपमें, और इस परिवर्तनमें सहायता करने-वाले प्रभावके रूपमें, पूर्वीय या कम-से-कम चीनी एवं जापानी कला पर्याप्त मान्यता-सी प्राप्त करने लगी है।

परंतु यह परिवर्तन अभी इतनी दूरतक नहीं गया है कि भारतीय कृतिकी गभीरतम और अत्यंत विशिष्ट भावना और अनुप्रेरणाका पूर्ण मूल्यांकन हो सके। मि. हॉवेलकी-सी दृष्टि या उनका-सा प्रयत्न अभी विरले ही देखनेमें आता है। अधिकांशमें अत्यंत सहानु-भूतिपूर्ण आलोचना भी कला-शिल्पकी सराहना और कल्पनाके प्रति सहानुभूतिपर ही रुक जाती है जो बाहरसे समझनेकी कोशिश करती है और कलात्मक संकेतके केवल उतने ही अंशके भीतर पैठती है जितना कि एक अधिक योग्यतासंपन्न और सुनम्य आलोचक मनकी नयी विस्तृततर दृष्टिके द्वारा तुरंत ग्रहण किया जा सकता है। परंतु भारतीय कलात्मक सृजनके वास्तविक मूल स्रोत और आध्यात्मिक उद्गमको समझनेका चिह्न नहींके समान है। इसलिये मतभेदकी गहराइयों और उसके कारणोंकी थाह लेना अभी भी उपयोगी है। स्वयं भारतीय मनके लिये यह विशेष रूपसे आवश्यक है, क्योंकि विरोधी दृष्टिकोणके द्वारा प्रेरित

मूल्यांकनसे वह अपने-आपको अधिक अच्छी तरह समझ सकेगा और विशेषकर इस बातको अधिक अच्छी तरह पकड़ पायगा कि भारतीय कलामें सारभूत वस्तु कौन-सी है जिसपर भविष्यमें दृढ़ रहना होगा और कौन-सी चीज विकासकी एक प्रासंगिक घटना या एक अवस्था-मात्र है जिसे नये सृजनकी ओर बढ़ते हुए त्यागा जा सकता है। यह वास्तवमें उन लोगों-का कार्य है जिनमें स्वयं एक ही साथ सर्जनशील अंतर्दृष्टि, कलाकारिताकी योग्यता और दृष्टिसंपन्न समीक्षक आंख तीनों हों। परंतु जिस किसी भी व्यक्तिमें जरा भी भारतीय भाव-भावना है वह कम-से-कम उन मुख्य एवं केंद्रीय वस्तुओंका कुछ वर्णन कर सकता है जो उसके लिये भारतीय चित्रकारी, मूर्तिकला और स्थापत्यको आकर्षक बनाती हैं। मैं बस इतना ही करनेका यत्न करूंगा, क्योंकि यह अपने-आपमें भारतीय संस्कृतिके सौंदर्यात्मक महत्त्वके पहलूका सर्वोत्तम समर्थन और औचित्य होगा।

कलाकी आलोचना जब उस भाव, लक्ष्य एवं मूल हेतुकी उपेक्षा करती है जिससे कि किसी विशेष प्रकारकी कलात्मक कृतिका जन्म होता है और जब वह एक सर्वथा भिन्न भाव, लक्ष्य और हेतुके प्रकाशमें केवल बाह्य व्योरोंके द्वारा ही गुण-दोषकी परीक्षा करती है तो वह एक व्यर्थ एवं निर्जीव वस्तु बन जाती है। एक बार जब हम मूल वस्तुओंको हृदयंगम कर लेते हैं, विशिष्ट प्रणाली और भावनामें पैठ जाते हैं, उस भीतरी केंद्रसे रूप और उसकी कार्यान्विति (execution) की व्याख्या करनेमें समर्थ हो जाते हैं, तब हम देख सकते हैं कि अन्य दृष्टिबिंदुओंके एवं तुलनात्मक मनके प्रकाशमें वह कैसी दिखायी देती है। तुलनात्मक आलोचनाकी भी अपनी उपयोगिता है पर यदि उसे वस्तुतः मूल्यवान् बनना हो तो उससे पहले आलोच्य वस्तुके मूल तत्त्वको समझ लेना आवश्यक है। परंतु जहां साहित्यकी विस्तृततर एवं अधिक नमनीय धारामें यह अपेक्षाकृत सरल है, वहां मेरी समझमें अन्य कलाओंमें यह अधिक कठिन है जहां कि भावनाका भेद गहरा होता है, क्योंकि वहां मध्यस्थता करनेवाले शब्दका अभाव, भावनासे सीधे रेखा और रूपकी ओर बढ़नेकी आवश्यकता लक्ष्यकी विशेष तीव्रता और अनन्य एकाग्रताको तथा कार्यान्वितिके दबावको ले आती है। जो वस्तु रचनाकी प्रेरणा देती है उसकी तीव्रता अधिक स्पष्ट शक्तिके साथ प्रकट की जाती है, परंतु अपने दबाव और अपनी प्रत्यक्षताके ही कारण वह आवश्यक चीजों और एक साथ रहनेवाली आकर्षक विविधताओंके लिये बहुत कम अवकाश देती है। जो वस्तु अभिप्रेत होती है और जो निर्मित की जाती है वे आत्मा या कल्पनात्मक मनमें गहरा प्रभाव डालती हैं, परंतु वे इसकी बहुत थोड़ी-सी सतहको ही स्पर्श करती हैं और संपर्कके बिंदुओंकी संख्या भी अपेक्षाकृत कम ही होती है। किंतु कारण चाहे जो हो, भिन्न प्रकारके मनके लिये इसका मूल्य समझना अपेक्षाकृत कम ही सुगम होता है।

भारतीय मन अपनी स्वाभाविक स्थितिमें यूरोपकी कलाओंको वास्तविक रूपमें अर्थात् आध्यात्मिक दृष्टिसे समझनेमें लगभग वैसी ही या बिलकुल वैसी ही कठिनाई अनुभव करता है

जैसी कि साधारण यूरोपीय मनको भारतीय चित्रकला और भास्करकलाकी भावनामें प्रवेश करनेमें अनुभव होती है। मैंने नारीके एक भारतीय चित्र और यूनानकी प्रेमकी देवीके चित्रमें की गयी एक तुलना देखी है जो इस कठिनाईका एक चरम ढंगका दृष्टांत उपस्थित करती है। आलोचक मुझे बताता है कि भारतीय चित्र प्रबल आध्यात्मिक भावसे भरा होता है--यहां तो वह भक्तिके, अवर्णनीय भक्तिके वास्तविक उच्छ्वास और अस्तित्वसे परिपूर्ण है, और यह बात सच है, यह एक ऐसा संकेत या यहांतक कि एक ऐसा सत्योन्मेष है जो बाह्य कृतिपर निर्भर रहनेके बजाय रूपमेंसे प्रकट हो उठता या उमड़ पड़ता है,--परंतु यूनानी कृति केवल उदात्तीकृत शारीरिक या ऐंद्रिय आनंदको ही जागृत कर सकती है। अब, क्योंकि मैं यूनानी मूर्तिकलाके भावके अंतस्तलमें कुछ-कुछ प्रवेश कर चुका हूं, इसलिये मैं देख सकता हूं कि यह इस विषयका गलत वर्णन है। वह आलोचक भारतीय कृतिके वास्तविक भावमें तो पैठ गया है, पर यूनानी कृतिके वास्तविक भावमें नहीं; इसीसे तुलनात्मक मूल्यांकनके रूपमें उसकी आलोचनाका मूल्य एकदम जाता रहा। इसमें संदेह नहीं कि यूनानी चित्र बाहरी रूपपर बल देता है, पर इसके द्वारा वह एक कल्पनात्मक दृष्टिसंपन्न अंतःप्रेरणाकी ओर ध्यान आकर्षित करता है जिसका लक्ष्य सौंदर्यकी किसी दिव्य शक्तिको प्रकट करना होता है और इसलिये वह हमें एक ऐसी चीज प्रदान करता है जो सौंदर्यबोधात्मक निरे इंद्रिय-सुखसे कहीं अधिक होती है। यदि कलाकारने यह कार्य पूर्णताके साथ किया है तो कृतिका लक्ष्य पूरा हो गया है और वह एक सर्वोत्तम कृतिके रूपमें स्थान प्राप्त करती है। भारतीय मूर्तिकार रूपके पीछे अवस्थित किसी वस्तुपर बल देता है, एक ऐसी वस्तुपर जो स्थूल कल्पनासे तो अधिक दूर पर आत्माके अधिक निकट होती है, और वह भौतिक रूपको उस वस्तुके मुकाबले गौण स्थान प्रदान करता है। यदि वह केवल आंशिक रूपमें ही सफल हुआ है या यदि उसने इसे शक्तिके साथ तो संपन्न किया है पर कार्यान्वितिमें कोई चीज दोषपूर्ण रह गयी है तो उसकी कृति कम महान् होती है, चाहे इसके उद्देश्यमें अधिक महान् भावना ही क्यों न विद्यमान हो: परंतु जब वह पूर्ण रूपसे सफल होता है तब उसकी कृति भी एक अत्युत्कृष्ट रचना होती है, और हम इसे शुद्ध हृदयसे पसंद कर सकते हैं, यदि हम कलासे आध्यात्मिक किंवा उच्चतर अंतर्ज्ञानमय दृष्टिकी ही सर्वाधिक मांग करते हैं। परंतु इस बातका दोनों प्रकारकी कृतियोंके, उनकी अपनी श्रेणीके अंतर्गत, मूल्यांकनमें हस्तक्षेप करना आवश्यक नहीं।

परंतु यूरोपकी अन्य बहुत-सी अति सुप्रसिद्ध कृतियोंका निरीक्षण करते समय मैंने स्वयं अपनेको आध्यात्मिक सहानुभूति दिखानेमें असमर्थ पाया है। उदाहरणार्थ, मैं टिन्टोरेट्टो (Tintoretto) के कुछ एक अत्यंत विख्यात चित्र देखता हूं,--मानव प्रतिकृतियां नहीं, क्योंकि वे मनुष्यकी अंतरात्माको (सक्रिय या चारित्रिक आत्माको ही सही) व्यक्त करती हैं, वरन् मान लो कि 'आदम और हौवा (Adam and Eve)', 'अजगरका वध करते

हुए सेंट जार्ज', 'वेनिस नगर की मंत्रिसभाके सदस्योंके सम्मुख ईसाका आविर्भाव'—— इन कृतियोंको देखता हूं, और अपनी सत्ताके किसी कोनेमें प्रत्युत्तर न देनेवाली शून्यताके कारण मैं अपने-आपको स्तब्ध और विस्मित-सा अनुभव करता हूं। मैं रंग-कौशल और परिकल्पनाकी सुन्दरता एवं शक्तिको देख सकता हूं, मैं बहिर्मुख कल्पनाकी या क्रियाके उत्साह-पूर्ण आकर्षक प्रदर्शनकी क्षमताको देख सकता हूं, परंतु ऊपरी तलके नीचे विद्यमान या रूप-की महानताके तुल्य किसी अर्थको ढूंढ़ निकालनेकी मेरी चेष्टा व्यर्थ ही जाती है। हां, शायद कहीं-कहीं कोई प्रासंगिक गौण संकेत मुझे मिल जाता है और वह मेरे लिये पर्याप्त नहीं होता। जब मैं अपनी इस असफलताका विश्लेषण करनेका यत्न करता हूं तो पहले मुझे कुछ ऐसी परिकल्पनाएं दिखायी देती हैं जो मेरी आशासे या देखनेके मेरे अपने ढंगसे मेल नहीं खातीं। यह बलिष्ठ आदम, इस हौवाका इंद्रिय-सुलभ सौंदर्य मुझे मानवजातिकी माता या पिताका दर्शन नहीं कराते, यह अजगर मुझे केवल एक उग्र अशुभसूचक पशु प्रतीत होता है जो वध किये जानेके महासंकटमें ग्रस्त है, यह एक भीषण अशुभकी सर्जनशील मूर्ति नहीं दिखायी देता, ये भारी-भरकम शरीरवाले और दयापूर्ण एवं दार्शनिक चेहरेवाले ईसा प्रायः मुझे कष्ट ही पहुंचाते हैं, ये किसी भी तरह वे ईसा तो नहीं हैं जिन्हें मैं जानता हूं। परंतु आखिर ये अवांतर बातें हैं; वास्तविक बात यह है कि मैं इस कलाके पास पहलेसे ही एक प्रकारकी अंतर्दृष्टि, कल्पना, भावावेग और गूढ़ार्थकी मांग लेकर आता हूं जिन्हें यह मुझे प्रदान नहीं कर सकती। और चूंकि मैं इतना आत्मविश्वासी नहीं हूं कि यह सोचूं कि जिस चीजको बड़े-बड़े आलोचकों और कलाकारोंकी सराहना प्राप्त होती है वह सराहनीय नहीं है, अतएव इस कलाको देखकर मैं बस मि. आर्चरके द्वारा की हुई किसी भारतीय कृतिकी आलोचनाको ही इसपर लागू करनेकी ओर झुक जा सकता हूं और यह कह सकता हूं कि इसका केवल ऊपरी कार्य ही सुंदर या अद्‌भुत है पर इसमें कल्पनाका नाम-निशान नहीं, ऊपरी तलपर जो कुछ है उससे परे कोई भी चीज नहीं। मैं यह समझ सकता हूं कि जिस चीजका अभाव है वह असलमें उस प्रकारकी कल्पना है जिसकी मैं व्यक्तिगत रूपमें मांग करता हूं; पर यद्यपि मेरा उपार्जित संस्कृत मन मुझे यह बात समझा देता है और बौद्धिक रूपमें शायद वह इससे अधिक किसी वस्तुको पकड़ भी पाये तो भी मेरी मूल सत्ता संतुष्ट नहीं होगी, प्राण और मांसकी, जीवनकी शक्ति और हलचलकी इस विजयसे मैं ऊंचा नहीं उठता बल्कि दब-सा जाता हूं,——यह नहीं कि स्वयं इन चीजोंपर अथवा इंद्रिय-संबंधी या यहांतक कि इंद्रिय-भोगसंबंधी विषयोंके ऊपर, जिनका कि भारतीय कृतिमें भी नितांत अभाव नहीं है, दिये गये अत्यधिक बलपर मुझे कोई आपत्ति है, इसपर मुझे कुछ भी आपत्ति नहीं यदि मैं उस अधिक गहरी वस्तुका जिसे मैं इसके पीछे देखना चाहता हूं, कम-से-कम कुछ भी अंश प्राप्त कर सकूं,——और मैं अपने-आपको इटलीके एक अत्यंत महान् कलाविद्‌की कृतिसे विमुख होता हुआ पाता हूं जिसमें कि मैं किसी "बर्बर" भारतीय चित्र या मूर्तिसे, किसी शांत गहन-

गभीर बुद्ध, कांसेकी मूर्ति शिव या असुरोंका वध करती हुई अठारह भुजाओंवाली दुर्गासे अपने-आपको संतुष्ट कर सकूं। परंतु मेरी असफलताका कारण यह है कि मैं एक ऐसी चीज ढूंढ़ रहा हूं जो इस कलाकी भावनामें अभिप्रेत नहीं थी और जिसकी मुझे इसकी विशिष्ट कृतिसे आशा नहीं करनी चाहिये। और यदि मैं मूल यूनानी भावनाकी भांति इस पुनरुज्जीवनकालीन मनोवृत्तिमें अपनेको निमज्जित करता तो मैं अपने आंतरिक अनुभवमें कुछ वृद्धि करके एक अधिक उदार और विश्वव्यापी सौंदर्यभावनाको अधिगत कर पाता।

इस मनोवैज्ञानिक भ्रांति या नासमझीपर मैं इसलिये बल देता हूं कि यह भारतीय कलाकी महान् कृतियोंके प्रति सामान्य यूरोपीय मनकी मनोवृत्तिकी व्याख्या करती है और इसे इसका ठीक मूल्य प्रदान करती है। यह मन केवल उसी चीजको पकड़ पाता है जो यूरोपीय प्रयत्नसे मिलती-जुलती है और उसे भी घटिया समझता है, और यह स्वाभाविक तथा सर्वथा ठीक भी है क्योंकि वही चीज पश्चिमी कृतिमें शक्तिके एक अधिक सहज स्रोतसे अधिक सच्चाई और पूर्णताके साथ संपन्न की जाती है। यही कारण है कि मि. आर्चरसे अधिक जानकार आलोचक गांधारकी कृत्रिम मूर्तिकलाको उस महान् और सच्ची कृतिकी अपेक्षा जो अपने एकत्वमें मौलिक और यथार्थ है, आश्चर्यजनक रूपसे अधिक पसंद करते हैं, ---गांधारकी उस मूर्तिकलाको जो कि दो असंगत उद्देश्योंका एक असंतोषजनक एवं प्राय: शक्तिहीन संयोग है, वे उद्देश्य, कम-से-कम, असंगत ही हैं यदि उनमेंसे एक दूसरेमें घुल-मिल न जाय जैसा कि यहां वह निश्चय ही दूसरेके साथ घुलमिलकर एक नहीं हो गया है,---अथवा यही कारण है कि यूरोपीय मन कुछेक दूसरे या तीसरे दर्जेकी रचनाओंकी प्रशंसा करता है जो कि अन्यथा समझमें नहीं आ सकती, और वह कुछ अन्य रचनाओंसे जो उदात्त और गंभीर तो हैं पर उसकी धारणाओंकी दृष्टिसे विचित्र हैं, मुंह मोड़ लेता है। या फिर वह हिंदू-मुस्लिम कृति जैसी कृतिको जो चाहे पश्चिमी नमूनोंसे किसी प्रकार भी नहीं मिलती-जुलती पर किन्हीं-किन्हीं स्थलोंपर इसकी सौंदर्यात्मक धारणाओंके वृत्तकी बाहरी सीमाओंमें प्रविष्ट होनेकी सामर्थ्य रखती है, सराहना करते हुए ग्रहण करता है---पर क्या वह वास्तवमें गहराईके साथ समझकर की गयी एक पूर्ण सराहना होती है? वह, यहांतक कि, ताजमहलसे इतना अधिक प्रभावित होता है कि यह माननेकी चेष्टा करता है कि यह इटलीके किसी मूर्तिकारकी रचना है जो निःसंदेह एक विस्मयजनक प्रतिभासे संपन्न था और जिसने एकमात्र सफलताकी इस एक घड़ीमें अपने-आपको अद्भुत रूपमें भारतीय बना लिया था,---क्योंकि भारत चमत्कारोंका देश है,---और जो संभवतः इसी प्रयासके मारे मृत्युके मुखमें चला गया, क्योंकि वह हमारी सराहनाके लिये और कोई भी कृति नहीं छोड़ गया है। और फिर कम-से-कम मि. आर्चरके अंदर वह (यूरोपीय मन) जावाकी कृतिकी उसकी मानवीयताके कारण स्तुति करता है और यहांतक कि उससे यह परिणाम निकालता है कि वह भारतीय नहीं है। शैलीकी विभिन्नताके पीछे भारतीय कृतिके साथ उसकी मूलगत

एकता इस मनको नहीं दिखायी देती क्योंकि भारतीय कृतिका मूलभाव एवं आभ्यंतरिक अर्थ इस मनकी दृष्टिके प्रति शून्यवत् है और यह केवल बाह्य रूपको, अर्थात् अर्थके केवल एक संकेतको ही देखता है जिसे वह, इसी कारण, नहीं समझ पाता और नापसंद करता है। ठीक इसी तरह कोई यह भी कह सकता है कि बड़े अक्षरोंवाली देवनागरी लिपिमें लिखी हुई गीता एक बर्बर भीषण या निरर्थक वस्तु है, परंतु घसीटकी लिपिमें मानवीय और बुद्धि-गम्य हो जाती है, अतः भारतीय नहीं रहती।

परंतु, साधारणतया, यदि इस मनको कलासंबंधी किसी प्राचीन, हिंदू, बौद्ध या वैदांतिक वस्तुके सामने उपस्थित किया जाय तो यह उसकी ओर एक शून्य या रोषपूर्ण दुर्बोधताके भावमें दृष्टिपात करेगा। यह उसका अर्थ ढूंढ़ता है पर इसे कोई भी अर्थ नहीं दिखायी देता, और इसका कारण या तो यह है कि इसे अपने-आपमें कोई अनुभव नहीं है और इस कलाका वास्तविक अर्थ क्या है तथा यह किस भावको प्रकट करती है इसकी कल्पना करना ही इसे कठिन प्रतीत होता है और इसे अनुभव करना तो और भी अधिक कठिन, अथवा इसका कारण यह है कि यह उस चीजको ढूंढ़नेका आग्रह करता है जिसे यह अपने यहांकी कलामें देखनेका अभ्यस्त है और, उसे न पानेपर इसे निश्चय हो जाता है कि इसमें देखने-योग्य या मूल्यवान् वस्तु कोई भी नहीं है। अथवा यदि इसमें कोई ऐसी चीज है भी जिसे यह समझ सकता है तो भी यह उसे समझता नहीं है क्योंकि वह भारतीय रूपमें और भारतीय ढंगसे व्यक्त की हुई है। यह पद्धति एवं आकारको देखता है और उसे अपरिचित तथा अपने नियमोंके विपरीत पाता है तो विद्रोह, घृणा और जुगुप्सा अनुभव करता है, उसे एक भीषण, बर्बर, कुरूप या निरर्थक वस्तु कहकर उसकी चर्चा करता है, तीव्र घृणा या अवज्ञाके भावमें आगे बढ़ जाता है। अथवा यदि यह महानता या शक्तिके विश्लेषण न करने योग्य सौंदर्यके किसी बोधसे अभिभूत हो जाता है तो भी यह एक भव्य बर्बरताकी ही बात करता है। क्या तुम समझके इस खोखलेपनका प्रकाशप्रद दृष्टांत चाहते हो? मि. आर्चर ध्यानी बुद्धको देखते हैं जिनमें अपनी परम, अगाध और अनंत आध्यात्मिक शांति है जिसे प्रत्येक सुसंस्कृत प्राच्य मन तुरंत अनुभव कर सकता है तथा अपनी सत्ताकी गहराइयोंमें जिसका प्रत्युत्तर भी दे सकता है, और उन्हें देखकर वे कहते हैं कि उनमें कुछ भी नहीं है,—हैं केवल झुकी हुई पलकें, अचल आसन और निस्तेज चेहरा, मेरी समझमें इससे उनका मतलब है शांत और निर्लिप्त चेहरा।[1] सांत्वनाके लिये वे गांधार-शैलीकी

[1]एक टिप्पणीमें मि. आर्चर इन बुद्ध-मूर्तियोंके विषयमें दिये जानेवाले एक मूर्खतापूर्ण समर्थन-की चर्चा करते हैं और, बहुत ठीक ही, इसका निराकरण भी करते हैं कि इनकी महानता और आध्यात्मिकता रचनामें बिलकुल नहीं है; बल्कि कलाकारकी भक्तिमें है! यदि कला-कार उस वस्तुको जो उसके अपने अंदर थी अपनी कृतिमें प्रकट नहीं कर सकता—और यहां

बुद्ध-प्रतिमाके भावांकनकी यूनानी श्रेष्ठताकी ओर, या जीवित-जागृत रवीन्द्रनाथ ठाकुरकी ओर मुड़ते हैं जो पेशावरसे कामाकुरा (Kamakura) तकके किसी भी बुद्धसे अधिक आध्यात्मिक हैं, यह तुलना-पद्धतिका अनुचित दुरुपयोग है जिसका विरोध करनेवालोंमें, मैं समझता हूं, स्वयं वे महाकवि ही, सर्वप्रथम होंगे। यहां हम उसके मनमें देखते हैं पूर्ण नासमझी, अंधकारपूर्ण खिड़की, बंद दरवाजा और यहीं हम यह भी देखते हैं कि क्यों सामान्य पश्चिमी मन भारतीय कलाके पास उससे भिन्न चीजकी मांग लेकर आता है जिसे कि इसका विशिष्ट भाव और उद्देश्य हमें प्रदान करना चाहते हैं, और उसकी मांग करते हुए वह अन्य प्रकारकी आध्यात्मिक अनुभूतिमें तथा सर्जनशील दृष्टि, कल्पना-शक्ति और आत्माभिव्यक्तिकी शैलीके अन्य स्तरमें प्रवेश करनेके लिये तैयार नहीं होता।

एक बार यह बात समझमें आ जानेपर हम कलात्मक सृजनकी मूल भावना और प्रणाली-के उस भेदकी ओर मुड़ सकते हैं जिसने पारस्परिक नासमझीको जन्म दिया है; क्योंकि वह हमें इस विषयके भावात्मक पक्षकी ओर ले आयगा। समस्त महान् कलात्मक कृति अंत-र्ज्ञानकी एक क्रियासे, वस्तुतः किसी बौद्धिक विचार या उज्ज्वल कल्पनासे नहीं,——ये तो केवल मानसिक रूपांतर हैं,——बल्कि जीवन या सत्ताके किसी सत्यके सीधे अंतर्ज्ञानसे, उस सत्यके किसी अर्थपूर्ण रूपसे, मनुष्यके मनमें हुए उसके किसी विकाससे उद्भूत होती है। और इस विषयमें महान् यूरोपीय और महान् भारतीय रचनामें कोई भेद नहीं है। तो फिर वह विपुल भेद कहांसे आरंभ होता है? वह अन्य हरएक चीजमें विद्यमान है, अंतर्ज्ञाना-त्मक दृष्टिके विषय और क्षेत्रमें, दृष्टि या संकेतको कार्यान्वित करनेकी पद्धतिमें, कार्यान्विति-में बाह्य रूप और शिल्प-प्रणालीके द्वारा लिये गये भागमें, मानव मनके प्रति प्रकट करनेके सारे तरीकेमें, यहांतक कि हमारी सत्ताके उस केंद्रमें भी जिसे वह रचना आकर्षित करती है। यूरोपीय कलाकार अपनी अंतःस्फुरणा जीवन और प्रकृतिमें विद्यमान किसी बाह्य रूपसे मिलनेवाले संकेतके द्वारा प्राप्त करता है अथवा, यदि यह उसकी अपनी अंतरात्माकी किसी वस्तुसे उद्भूत होती है तो, तुरंत ही वह इसका संबंध एक बाह्य अवलंबनके साथ जोड़ देता है। उस अंतःस्फुरणाको वह अपने सामान्य मनमें उतार लाता है और बौद्धिक विचार एवं बुद्धिगत कल्पनाको उसे उस मानसिक उपादानका जामा पहनानेके काममें लगा देता है जो प्रेरित बुद्धि, भावावेश और सौंदर्य-बोधको अपने ही रूपमें परिणत कर डालेगा। तब वह अपनी आंख और हाथको उसे उन रूपोंमें क्रियान्वित करनेमें नियुक्त कर देता है जो जीवन और प्रकृतिके आपात-सुन्दर "अनुकरण"से आरंभ करते हैं——और साधारण हाथोंमें

जो चीज प्रकट की गयी है वह भक्ति नहीं है,——तो उसकी कृति एक व्यर्थकी, अपरिपक्व वस्तु है। परंतु यदि उसने उस चीजको जो उसने अनुभव की है, प्रकट कर दिया है, तो जो मन उसकी कृतिको देखता है उसमें भी इसे अनुभव करनेकी सामर्थ्य अवश्य होनी चाहिये।

अधिकांशतः यहीं समाप्त हो जाते हैं——ताकि वे उस व्याख्यातक पहुंच सकें जो उसे सचमुच ही एक ऐसी वस्तुकी प्रतिमूर्तिमें बदल देती है जो हमारी अपनी सत्ता या वैश्व सत्ताकी कोई बाह्य वस्तु नहीं बल्कि जो साक्षात् की गयी वास्तविक वस्तु थी। और किसी कृतिपर दृष्टिपात करते हुए हमें रंग, रेखा एवं विन्यासके द्वारा या और किसी भी ऐसी चीजके द्वारा जो बाह्य साधनोंका अंग हो, उस वास्तविक वस्तुकी ओर, इन बाह्य वस्तुओंके मानसिक संकेतोंकी ओर लौटना होगा और इनके द्वारा संपूर्ण विषयकी आत्माकी ओर जाना होगा। आकर्षण सीधे गभीरतम आत्मा एवं अंतःस्थित अध्यात्म-सत्ताकी दृष्टिको नहीं होता बल्कि ऐंद्रिय, प्राणिक, भावमय, बौद्धिक और कल्पनाक्षम सत्ताके प्रबल जागरणके द्वारा बाह्य अंतःकरणको ही होता है, और आध्यात्मिक सत्ताका तो हम उतना ही अधिक या उतना ही कम अंश प्राप्त करते हैं जितना कि बाह्य मनुष्यके अनुकूल हो सकता है और उसके द्वारा अपनेको प्रकट कर सकता है। जीवन, कर्म, मनोवेग, भावावेश, विचार, विश्व-प्रकृति जो स्वयं अपने लिये तथा अपने अंदर विद्यमान सौंदर्यात्मक आनंदके लिये देखे गये हों——ये ही इस सर्जनशील अंतर्ज्ञानका विषय और क्षेत्र हैं। इससे अधिक कोई वस्तु जिसे भारतीय मन इन चीजोंके पीछे अवस्थित जानता है, यदि झांकती भी है तो अनेक पर्दोंके पीछेसे ही। अनंत और उसके देवताओंकी साक्षात् और अनावृत उपस्थितिका आवाहन नहीं किया जाता और न इसे महत्तर महानता एवं उच्चतम पूर्णताके लिये आवश्यक ही समझा जाता है।

प्राचीन भारतीय कलाके महत्तम स्वरूपका सिद्धांत——और वह महत्तम स्वरूप ही शेष सारी कलाको उसका आकार-प्रकार प्रदान करता है तथा कुछ अंशमें उसपर अपनी छाप और प्रभाव भी डालता है——एक और ही प्रकारका है। उसका सबसे उच्च कार्य है—— अंतरात्माकी दृष्टिके सम्मुख परम आत्मा, अनंत एवं भगवान्‌के कुछ अंशको प्रकट करना, परम आत्माको उसकी अभिव्यक्तियोंके द्वारा, अनंतको उसके सजीव सांत प्रतीकोंके द्वारा और भगवान्‌को उनकी शक्तियोंके द्वारा प्रकट करना। या फिर उसे अंतरात्माकी बोध-शक्ति या भक्ति-भावना या, कम-से-कम, अध्यात्ममय या धर्ममय रसात्मक भावावेगके सामने देवताओंको प्रकट करना, प्रकाशमय रूपमें उनकी व्याख्या करना या किसी प्रकार उनका संकेत देना होता है। जब यह पवित्र कला इन ऊंचाइयोंसे उतरकर हमारे लोकोंके पीछे अवस्थित मध्यवर्ती लोकोंतक, हीनतर देवताओं या जिनोंतक पहुंचती है, तब भी यह ऊपरसे किसी शक्ति या किसी संकेतको उनमें ले आती है। और जब यह बिलकुल नीचे जड़ जगत्‌तक और मनुष्यके जीवन तथा बाह्य प्रकृतिकी वस्तुओंतक पहुंचती है तो भी यह महत्तर अंतर्दृष्टि, पवित्र छाप और आध्यात्मिक दृष्टिसे सर्वथा रहित नहीं हो जाती, और अधिकांश उत्तम कृतियोंमें——विश्रामके और गोचर पदार्थके साथ विनोदपूर्ण या सजीव क्रीड़ाके क्षणोंको छोड़कर——सदा ही कोई और चीज भी होती है जिसमें जीवनका जीवंत चित्रण

ऐसे तैरता रहता है जैसे कि एक अभौतिक वातावरणमें। जीवनको आत्मामें या अनंतके या परेकी किसी वस्तुके एक संकेतमें देखा जाता है अथवा वहां कम-से-कम इन वस्तुओंका एक स्पर्श एवं प्रभाव होता है जो उस चित्रणको रूप देनेमें सहायक होता है। यह बात नहीं है कि समस्त भारतीय कृतियां इस आदर्शको चरितार्थ करती हैं; निःसंदेह उनमें ऐसी भी बहुत-सी हैं जो इस ऊंचाईतक नहीं पहुंचतीं, नीचे रह जाती हैं, निष्प्रभाव या यहांतक कि विकृत होती हैं, परंतु सर्वश्रेष्ठ तथा अत्यंत विशिष्ट प्रभाव एवं कार्यान्विति ही किसी कलाको अपनी रंगत देती है और इन्हींके द्वारा हमें निर्णय करना चाहिये। सच पूछो तो भारतीय कलाका भी आध्यात्मिक लक्ष्य और मूलतत्त्व वही है जो शेष भारतीय संस्कृतिका है।

अतएव आत्माके अंदर देखना ही भारतीय कलाकारका अपना विशेष तरीका हो जाता है और यही कला-संबंधी शास्त्रका उसके लिये विधान है। उसे जिस चीजको व्यक्त करना हो उसका सत्य पहले उसे अपनी आध्यात्मिक सत्तामें देखना होगा और अपने संबोधि-मनमें उसका रूप गढ़ना होगा; अपने आदर्शके लिये, अपनी प्रामाणिकता, अपने नियम और शिक्षकके लिये या अपने प्रेरणा-स्रोतोंके लिये वह पहले बाह्य जीवन और प्रकृतिपर दृष्टि डालनेके लिये बाध्य नहीं है। जो चीज उसे व्यक्त करनी है वह जब एक सर्वथा आंतरिक वस्तु है तो वह बाहर दृष्टि डालनेके लिये बाध्य हो भी क्यों? अपने प्रेरणाप्रद साधनोंके रूपमें उसे जिन चीजोंपर निर्भर करना है वे बुद्धिगत विचार, मानसिक कल्पना एवं बाह्य भावावेश नहीं बल्कि आत्माका विचार, उसकी कल्पना और उसका भावावेश हैं, और मानसिक प्रतिरूप तो प्रेषण-कार्यमें सहायता करनेके लिये गौण साधनमात्र हैं और केवल कुछ अंशमें ही रंग तथा रूप प्रदान करते हैं। स्थूल रूप, रंग, रेखा और योजना उसके अभिव्यंजनाके भौतिक साधन हैं, परंतु उनका प्रयोग करते समय वह प्रकृतिका अनुकरण करनेके लिये बाध्य नहीं है, बल्कि उसे रूप तथा अन्य सभी चीजोंको इस प्रकार बनाना होगा कि वे उसकी अंतर्दृष्टिको प्रकाशित करें, और यदि यह कार्य केवल किसी ऐसे सुधार, किसी ऐसी भावभंगिमा, किसी ऐसे स्पर्श या प्रतीकात्मक परिवर्तनके द्वारा ही किया जा सकता हो या सुचारु रूपसे किया जा सकता हो जो भौतिक प्रकृतिमें उपलब्ध नहीं है, तो उसका प्रयोग करनेके लिये वह पूर्ण रूपसे स्वतंत्र है, क्योंकि उसकी अंतर्दृष्टिके सामने प्रकट होनेवाला सत्य ही, जिस चीजको वह देख रहा और प्रकट कर रहा है उसका एकत्व ही उसका एकमात्र विषय है। रेखा और रंग आदि वस्तुएं उसका पहला नहीं बल्कि सबसे पिछला कार्य हैं, क्योंकि उन्हें अपने ऊपर उन अगणित वस्तुओंका भार वहन करना है जो उसके मनमें पहलेसे ही आध्यात्मिक रूप ग्रहण कर चुकी हैं। उदाहरणार्थ, उसे हमारे लिये बुद्धके मानवीय चेहरे और शरीरका या उनके जीवनकी किसी एक प्रबल अभिलाषा या घटनाका पुनः चित्रण नहीं करना है, बल्कि बुद्धकी प्रतिमूर्तिके द्वारा निर्वाणकी शांतिको

अभिव्यक्त करना है, और इसके लिये उसे प्रत्येक ब्योरे तथा सहायक वस्तुको अपने उद्देश्यके साधन या सहायकके रूपमें परिणत करना होगा। और जब उसे किसी मानवीय अभिलाषा या घटनाका चित्रण करना होता है तब भी प्रायः यह केवल यही चीज नहीं होती बल्कि अंतरात्माके अंदरकी कोई और चीज भी होती है या वह अंदरकी चीज ही अधिक मात्रामें होती है जिसकी ओर यह केवल इंगित करती है या जिससे यह उद्भूत होती है अथवा उस कार्यके पीछे अवस्थित कोई शक्ति होती है जिसे उसकी योजनाकी भावनामें प्रवेश करना होता है और जो प्रायः ही एक वस्तुतः प्रधान वस्तु होती है। और जो आंख उसकी कृतिको देखती है उसके द्वारा उसे केवल बाह्य सत्ताकी उत्तेजनाको ही नहीं वरन् अंतरात्माको भी आकर्षित करना है। कोई भली-भांति यह कह सकता है कि यदि हमें भारतीय कलात्मक कृतिके संपूर्ण अर्थमें प्रवेश करना हो तो उस सौंदर्यात्मक सहजप्रेरणाके जो कला-विषयक समस्त मूल्यांकनके लिये आवश्यक है, साधारण विकासके परे हमारे अंदर एक आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि या संस्कृतिका होना आवश्यक है, अन्यथा हम केवल ऊपरी सतहकी बाह्य वस्तुओं या, अधिकसे अधिक, ऊपरी सतहसे ठीक नीचेकी वस्तुओंतक ही पहुंच पायेंगे। यह एक अंतर्ज्ञानात्मक एवं आध्यात्मिक कला है और इसे अंतर्ज्ञानात्मक एवं आध्यात्मिक आंखसे ही देखना होगा।

यही भारतीय कलाका विशिष्ट स्वरूप है और इसकी उपेक्षा करना उसे बिलकुल ही न समझना या बहुत गलत समझना होगा। भारतीय स्थापत्य, चित्रकला और मूर्तिकला अपनी अंतःप्रेरणामें भारतीय दर्शन, धर्म, योग और संस्कृतिकी केंद्रीय वस्तुओंके साथ घनिष्ठतः एक ही नहीं हैं बल्कि वे इनके गूढ़ार्थकी विशेष रूपसे तीव्र अभिव्यक्ति भी हैं। साहित्यमें तो ऐसा बहुत कुछ है जिसका मूल्यांकन इन चीजोंमें अधिक गहरा प्रवेश किये बिना काफी अच्छी तरहसे किया जा सकता है, परंतु अन्य कलाओंका, वे हिंदू हों या बौद्ध, जो अवशेष बच रहा है उसका अपेक्षाकृत बहुत ही थोड़ा भाग ऐसा है जिसके बारेमें यह बात कही जा सकती हो। वे एक बहुत बड़ी हदतक भारतके आध्यात्मिक, चिंतनात्मक और धार्मिक अनुभवकी पवित्र सौंदर्यपूर्ण लिपि रही हैं।

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

सातवां अध्याय

भारतीय कला

वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्रकला वे तीन महान् कलाएं हैं जो आंखके द्वारा आत्माको आकर्षित करती हैं, और इसलिये ये वे चीजें भी हैं जिनमें 'गोचर' और 'अगोचर' अपने ऊपर अधिकतम बल देते हुए भी एक दूसरेकी अत्यधिक आवश्यकता अनुभव करते हुए परस्पर संयुक्त होते हैं। यहां अपने प्रधान-प्रधान अंगों, अनुपातों, रेखाओं और रंगोंसे युक्त आकार इन्हें केवल इनकी उस सेवाके द्वारा ही उचित ठहरा सकता है जो ये किसी ऐसी अगोचर वस्तुकी करती हैं जिसकी अभिव्यक्ति आकारको करनी होती है; आत्मा आंखके द्वारा अपने प्रति अपने-आपको प्रकट करनेके लिये स्थूल रूपकी समस्त संभव सहायताकी अपेक्षा करती है, फिर भी वह इससे मांग करती है कि यह अपने महत्तर अर्थका यथासंभव अधिकसे अधिक पारदर्शक पर्दा हो। पूर्वकी कला और पश्चिमकी कला––प्रत्येक अपनी विशिष्ट या मध्यम अवस्थामें, क्योंकि अपवाद तो सदा ही होते हैं,––इन दो परस्पर गुंथी हुई शक्तियोंकी समस्याको सर्वथा भिन्न प्रकारसे हल करती हैं। पश्चिमी मन रूपसे आकृष्ट और आबद्ध हो जाता है, उसीपर रुका रहता है और उसके मोहक आकर्षणसे परे नहीं जा सकता, उसके अपने सौंदर्यके लिये ही उससे प्रेम करता है, उसकी अत्यंत प्रत्यक्ष भाषासे सीधे ही जो भावमय, बौद्धिक और सौंदर्यात्मक सुझाव उत्पन्न होते हैं उन्हींपर निर्भर रहता है, आत्माको देहमें कैद कर देता है; प्रायः यहांतक कहा जा सकता है कि इस मनके लिये रूप आत्माकी सृष्टि करता है, आत्मा अपनी सत्ताके लिये और उसे जो कुछ कहना होता है उस सबके लिये रूपपर निर्भर करती है। इस विषयमें भारतीय मनोभाव इस विचारके सर्वथा विपरीत है। भारतीय मनके लिये रूप आत्माकी एक सृष्टिके रूपमें ही अस्तित्व रखता है, और किसी रूपमें नहीं, और वह अपना समस्त अर्थ एवं मूल्य आत्मासे ही आहरण करता है। प्रत्येक रेखा, आकार-प्रकारकी व्यवस्था, रंग, आकृति, भंगिमा, प्रत्येक भौतिक संकेत,––वे चाहे अनेक, बहुल और समृद्ध ही क्यों न हों,––प्रथमतः और अंततः

एक निर्देश एवं संकेत ही होता है, बहुधा वह एक ऐसा प्रतीक होता है जो अपने मुख्य व्यापारमें एक आध्यात्मिक भावावेग, विचार और प्रतिमूर्तिका आधार होता है, वह भावावेग आदि फिर अपनेसे परे उस आत्माके कम निरूपणीय, पर अधिक सबल रूपमें गोचर सत्यकी ओर जाते हैं जिसने सौंदर्यात्मक मनमें इन गतिविधियोंको उद्दीपित किया है और इनके द्वारा अर्थपूर्ण आकारोंमें परिणत हो गया है।

भारतके चिंतनात्मक और सर्जनशील मनकी यह विशिष्ट वृत्ति इस बातको आवश्यक बना देती है कि इसकी कृतियोंके विषयमें विचार करते समय हम उन कृतियोंसे परे एकदम उस सत्यके आंतरिक मूल भावतक पहुंचनेका यत्न करें जिसे कि भारतीय मन अभिव्यक्त करता है और बाहरसे नहीं बल्कि उसी सत्यपरसे उन्हें देखनेकी कोशिश करें। और सच पूछो तो भौतिक ब्योरों तथा उनके समन्वयसे आरंभ करना मुझे भारतीय कला-कृतिको देखनेका बिलकुल गलत तरीका मालूम होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि पश्चिमी आलोचनाकी रूढ़िगत शैलीका मतलब है--शिल्प और रूपका तथा रूपकी प्रत्यक्ष कहानीका विस्तारपूर्वक सूक्ष्म विचार करना और फिर सुन्दर या प्रभावशाली भावावेग और परिकल्पनाके किसी प्रकारके मूल्यांकनपर पहुंचना। कुछ एक गंभीरतर तथा अधिक संवेदनशील मनवाले आलोचकोंमें ही हम इस गहराईसे परे अधिक गभीर वस्तुओंको देख पाते हैं। भारतीय कलापर यदि इस प्रकारकी आलोचना-शैलीका प्रयोग किया जाय तो यह उसे निष्फल या अर्थहीन कह डालती है। यहां एकमात्र ठीक तरीका यह है कि एक पूर्ण अंतर्ज्ञानात्मक या ईश्वर-प्रेरित प्रतीतिके द्वारा अथवा समग्र वस्तुकी किसी समाहित एकाग्रताके द्वारा, जिसे भारतीय परिभाषामें 'ध्यान' कहते हैं, तुरंत ही आध्यात्मिक अर्थ और वातावरणतक पहुंचा जाय, अपने-आपको उसके साथ यथासंभव पूर्ण रूपसे एक कर दिया जाय, और केवल तभी शेष सब चीजोंका सहायक अर्थ एवं मूल्य पूर्ण और सत्य-प्रदर्शक बलके साथ प्रकट होगा। क्योंकि, यहां आत्मा ही रूपको वहन करती है, जब कि अधिकांश पश्चिमी कलामें रूप ही, आत्माका जो कुछ भी अंश वहां विद्यमान हो उसे वहन करता है। यहां एपिक्टीटस (Apictetus) की एक चमत्कारक उक्ति स्मरण हो आती है जिसमें वह मनुष्यका "शवको उठाये हुई एक छोटी-सी आत्मा" के रूपमें वर्णन करता है। पर अधिक सामान्य पश्चिमी दृष्टि सजीव जड़तत्त्वपर जमी हुई है जो अपने जीवनमें आत्माके एक जरासे अंशको वहन करता है। किंतु भारतीय मन और भारतीय कलाकी दृष्टि उस बृहत्, असीम आत्मा एवं अध्यात्म-सत्ता, **महान् आत्मा**, की दृष्टि है जो अपनी उपस्थितिके समुद्रमें हमारे सामने अपनी जीवंत आकृतिको ले आती है; वह आकृति उसकी अपनी अनंतताकी तुलनामें चाहे छोटी ही होती है किंतु फिर भी जो शक्ति इस प्रतीकको अनुप्राणित करती है उसके द्वारा उस अनंतकी आत्म-अभिव्यक्तिके किसी रूपको आश्रय देनेके लिये वह पर्याप्त होती है। अतएव यह आवश्यक है कि यहां हम केवल तर्कबुद्धि और सौंदर्यात्मक कल्पनाके द्वारा अनु-

प्राणित स्थूल आंखसे ही न देखें बल्कि स्थूल अवलोकनको आंतरिक आध्यात्मिक आंखके खुलने और अंतरात्माके साथ आनंदपूर्ण अंत:संपर्क प्राप्त करनेका मार्ग बनायें। एक महान् पूर्वीय कला-कृति उस मनुष्यके सामने अपना रहस्य सहजमें प्रकट नहीं करती जो इसके पास केवल सौंदर्य-विषयक कुतूहलके भावमें या विवेचनशील समीक्षात्मक बाह्य मनको लेकर आता है, और उस मनुष्यके सम्मुख तो यह अपना रहस्य और भी कम प्रकट करती है जो इसके पास विचित्र और विदेशी वस्तुओंके बीचसे गुजरनेवाले एक परिपक्व और पक्षपाती पर्यटकके रूपमें आता है; इसे तो निर्जनतामें, अपनी आत्माके एकांतमें एवं ऐसे क्षणोंमें देखना होगा जब कि हम सुदीर्घ और गंभीर ध्यान करनेमें समर्थ होते हैं और स्थूल-भौतिक जीवनकी रूढ़ियोंके बोझसे यथासंभव कम-से-कम दबे हुए होते हैं। यही कारण है कि इन चीजोंके विषयमें अपने सूक्ष्म बोधका प्रयोग कर––ऐसे बोधका जिसे अपनी खचाखच भरी चित्रशालाओं और अत्यंत अधिक चित्रोंसे सज्जित दीवारों-के द्वारा आक्रमण करनेवाला आधुनिक यूरोप सर्वथा खो चुका प्रतीत होता है, यद्यपि मैं शायद गलती कर रहा हूं, और यूरोपीय कलाके प्रदर्शनके लिये ठीक अवस्थाएं यही हैं,–– जापानियोंने अपने मंदिरों और बुद्ध-मूर्तियोंको यथासंभव प्रायः ही दूर, पहाड़ोंपर और प्रकृतिके दूरस्थ या एकांत स्थानोंमें स्थापित किया है और दैनिक जीवनकी स्थूल घड़ियोंमें वे महान् चित्रोंके साथ निवास करनेसे बचते हैं, बल्कि, इस कार्यको अधिक अच्छा समझते हुए, वे उन्हें इस प्रकार स्थापित करते हैं कि उनका निर्विवाद सुझाव मनके अंदर उसके सूक्ष्मतर क्षणोंमें गहरे पैठ सके अथवा वे उन्हें एक अलग स्थानमें स्थापित करते हैं जहां जाकर वे अत्यंत मूल्यवान् निर्जनतामें जब कि आत्माको जीवनसे फुरसत होती है उन्हें ध्यानपूर्वक देख सकें। यह एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण चिह्न है जो इस बातकी ओर संकेत करता है कि पूर्वीय कलाका जो आकर्षण है वह किस प्रकारका है तथा उसकी कृतियोंको देखनेकी ठीक विधि और भावना क्या है।

भारतीय वास्तुकला इस प्रकारके आंतरिक अध्ययन और अपने गभीरतम अर्थके साथ इस आध्यात्मिक तादात्म्यकी विशेष रूपसे मांग करती है और इनके बिना वह अपने-आपको हमारे सम्मुख प्रकट ही नहीं करेगी। भारतके प्राचीन युगके भवन, उसके राजमहल, सभा-भवन और नागरिकोंकी अट्टालिकाएं कालकी संहार-लीलासे बच नहीं सकी हैं; हमारे सामने जो कुछ बचा हुआ है वह अधिकांशमें महान् पर्वतीय और कंदरागत मंदिरोंका किंवा उसके मैदानोंमें बसे प्राचीन शहरोंके मंदिरोंका भी कुछ अंश है, और इसके अतिरिक्त हमारे सामने उसके बादके समयके जब कि मंदिर ही जीवनका केंद्र था, कुछ प्रार्थनागृह और देवमंदिर भी हैं, चाहे वे श्रीरंगम् और रामेश्वरम् जैसे मंदिर-प्रधान नगरों और तीर्थस्थानोंमें स्थित हों या उसके मदुरा जैसे, महान्, किसी समयके राजकीय नगरोंमें स्थित हों। इस प्रकार एक पवित्र कलाका अत्यंत पवित्र पहलू ही हमारे सामने बच रहा है। ये पवित्र भवन एक

प्राचीन आध्यात्मिक और धार्मिक संस्कृतिके चिह्न हैं, स्थापत्यके द्वारा उसकी आत्म-अभिव्यक्ति हैं। यदि हम प्रतीकों और संकेतोंके आध्यात्मिक निर्देश और धार्मिक महत्त्वकी एवं उनके आशयकी उपेक्षा करें और केवल तार्किक एवं लौकिक सौंदर्यात्मक मनके द्वारा देखें तो यह आशा करना व्यर्थ है कि हम इस कलाके किसी सच्चे और सूक्ष्मदर्शी मूल्यांकन-तक पहुंच सकेंगे। और यह भी याद रखना होगा कि यहां धार्मिक भावना एक ऐसी वस्तु है जो यूरोपीय धर्मोंकी भावनासे सर्वथा भिन्न है; और मध्ययुगीन ईसाइयत भी,--विशेषकर अपने उस रूपमें जिसमें कि आधुनिक यूरोपीय मन जो नवजागरण और हालके ऐहिकवादके दो महान् संकटोंमेंसे गुजर चुका है, आज दिन इसे देखता है,--पूर्वसे ही उत्पन्न होने और उसके साथ सादृश्य रखनेपर भी वस्तुतः अधिक सहायक नहीं होगी। भारतीय मंदिरपर कलात्मक दृष्टि डालते हुए उसमें पश्चिमी स्मृतियोंको ले आना या यूनानके पार्थेनोन मंदिर (Parthenon)[१] या इटलीके गिरजे या मुख्य गिरजाघर (Dumo) या बड़े घंटाघर (Campanile)[२] के साथ या यहांतक कि मध्ययुगीन फ्रांसके बड़े गाथिक गिरजों (Gothic Cathedrals)[३] के साथ भी भारतीय मंदिरकी तुलना करना,--यद्यपि इनमें कोई ऐसी चीज अवश्य है जो भारतीय मनोवृत्तिके अत्यधिक निकट है,--मनमें एक घातक विदेशीय और गड़बड़ मचानेवाला तत्त्व या मानदंड ला घुसेड़ना है। परंतु, सचेतन रूपमें हो या अवचेतन रूपमें, यही वह चीज है जिसे लगभग प्रत्येक यूरोपीय मन कम या अधिक मात्रामें करता है,--और यही यहांपर एक अनिष्टकारी मिश्रण है, क्योंकि यह उस दृष्टिकी कृतिको जो अपरिमेयको देखती थी, एक ऐसी आंखके परीक्षणके अधीन लाता है जो केवल नाप-तौलका ही विचार करती है।

भारतीय पवित्र वास्तुकृति, वह चाहे किसी भी तिथि और शैलीकी क्यों न हो या किसी-के भी निमित्त उत्सर्ग क्यों न की गयी हो, पीछेकी तरफ किसी ऐसी वस्तुकी ओर जाती है जो अनादि रूपसे प्राचीन है और जो आज भारतसे बाहर प्रायः पूर्ण रूपसे विलुप्त हो चुकी है, किसी ऐसी वस्तुकी ओर जाती है जो अतीतसे संबंध रखती है, और फिर भी वह आगे-की ओर बढ़ती है, यद्यपि तर्कवादी मन इस बातको सहजमें नहीं स्वीकार करेगा, आगे वह किसी ऐसी वस्तुकी ओर जाती है जो हमपर फिर लौटकर आयेगी और लौटना आरंभ

[१]एथेन्सके दुर्गपर स्थित एथेने पारथैनोज (Athene Parthenos) का मंदिर।

[२]साधारणतया कैम्पेनाइल (Campanile) शब्द उन बृहदाकार घंटाघरोंके लिये प्रयुक्त होता है जो चर्चसे संबद्ध न हों।

[३]ये गाथ लोगोंकी स्थापत्यशैलीका प्रतिनिधित्व करते हैं जिसकी विशेषताएं हैं ऊंची नोकीली मेहराबें और पुंजीभूत गोल खंभे आदि। नवजागरणके समयसे इस शैलीको निंद-नीय माना जाने लगा है।--अनुवादक

भी कर चुकी है, किसी ऐसी वस्तुकी ओर जाती है जो भविष्यसे संबंध रखती है। भारतीय मंदिर, वह चाहे किसी भी देवताके निमित्त बनाया जाय, अपने अंतरतम सत्य-स्वरूपमें भागवत पुरुषके निमित्त प्रतिष्ठित एक वेदी है, वह विश्वात्माका घर है, अनंतके प्रति एक आह्वान और अभीप्सा है। सर्वप्रथम उसे इसी रूपमें और इस दृष्टि एवं परिकल्पनाके प्रकाशमें ही समझना होगा, और अन्य प्रत्येक वस्तुको भी इसी योजना और इसी प्रकाशमें देखना होगा, केवल तभी हमें इस विषयमें कोई सच्चा ज्ञान प्राप्त हो सकता है। कोई भी कलात्मक आंख, चाहे वह कैसी भी सजग और बोधक्षम क्यों न हो, कोई भी सौंदर्यलक्षी मन चाहे वह कैसा भी परिपक्व और संवेदनशील क्यों न हो इस ज्ञानको नहीं प्राप्त कर सकता, यदि वह तर्कसंगत सौंदर्यकी यूनानी रंगमें रंगी धारणाके प्रति आसक्त हो अथवा स्थूल या बौद्धिक व्याख्यामें अपने-आपको कैद कर ले और विश्व-चेतनाके किसी स्पर्श, महत्तर आध्यात्मिक स्वरूपके किसी साक्षात्कार, अनंतके किसी निर्देशके प्रति एक सजातीय घनिष्ठ प्रत्युत्तरके द्वारा अपने-आपको भारतीय वास्तु-कृतिमें अभिप्रेत महान् वस्तुओंकी ओर खोलनेमें सफल न हो। ये वस्तुएं, अर्थात् आध्यात्मिक सत्ता, वैश्व आत्मा, और अनंत, बौद्धिक नहीं वरन् अतिबौद्धिक एवं सनातन सत्ताएं हैं,--पर बुद्धिके निकट ये केवल शब्दमात्र हैं,--और केवल हमारी अंतरतम आत्माओंमें होनेवाले अंतर्ज्ञान और साक्षात्कारके लिये ही गोचर, ज्ञेय और निकटस्थ हैं। जो कला इन्हींको प्रथम परिकल्पनाके रूपमें लेकर चलती है वही हमें हमारे अंदरके, हमारी अपनी अंतरात्मा एवं आत्माके किसी प्रत्युत्तरदायी अंतर्ज्ञान और सत्यदर्शनके द्वारा वह चीज अर्थात् इनका स्पर्श और सान्निध्य एवं इनका आत्म-प्रकाश दे सकती है जो कि उसे देनी है। बस, यही वह चीज है जिसे पानेके लिये मनुष्यको इसके पास आना चाहिये और इससे किसी बिलकुल दूसरी अभिलाषा या किसी अत्यंत भिन्न कल्पना-धारा और अधिक सीमित स्थूल अर्थकी संतुष्टिकी मांग नहीं करनी चाहिये।

भारतीय वास्तुकला और इसके गूढ़ार्थका यही सर्वप्रथम सत्य है जिसपर बल देनेकी जरूरत है और यह तुरंत ही कुछ एक अत्यंत प्रचलित भ्रांतियों और आक्षेपोंका उत्तर दे देता है। कलामात्र किसी एकसूत्रतापर अवलंबित होती है और उसके सभी ब्योरोंको, चाहे वे थोड़ेसे और परिमित हों या अपरिमित और खूब भरे-पूरे हों, उस एकत्वकी ओर लौटना तथा उसके अर्थमें सहायक होना चाहिये; अन्यथा वह कला ही नहीं है। अब, हम देखते हैं कि हमारा पश्चिमी आलोचक एक ऐसे निश्चयके साथ जो हमें स्तंभित ही कर देगा यदि हम यह न देखें कि वह कैसे स्वाभाविक रूपमें उत्पन्न हुआ है, हमसे कहता है कि भारतीय स्थापत्यमें भावका किसी भी प्रकारका एकत्व नहीं है, जो यह कहनेके समान ही है कि इसमें महान् कला बिलकुल है ही नहीं, है केवल घनीभूत और असंबद्ध ब्योरोंकी कार्यान्विति-में कुशलता। कुछ एक समालोचक तो जो कि वैसे सहानुभूतिपूर्ण हैं, हमें यहांतक बताते हैं कि इसमें साज-सज्जा एवं ब्योरेकी, जो अपने-आपमें चाहे कितना ही सुन्दर या श्रेष्ठ

हो, अत्यंत बोझिल बहुलता है और वह एकत्वके मार्गमें बाधा पहुंचाती है, इसमें प्रत्येक दरारको कच्ची धातुसे ठूंस-ठूंसकर भरनेका प्रयास दिखायी देता है, शांतिका सर्वथा अभाव है: रिक्त स्थान हैं ही नहीं, आंखको आराम देनेवाली कोई चीज ही नहीं है। मि. आर्चर सदाकी भांति इस विरोधी आलोचनाको इसके चरम चीत्कारपूर्ण ऊंचे स्वरोंतक ले जाते हैं; गोलियोंसे ठसाठस भरे हुए उनके सभी शब्द निरंतर इसी एक विषयपर आग्रह करते हैं। वे स्वीकार करते हैं कि दक्षिण भारतके बड़े-बड़े मंदिर विशाल गृहनिर्माणके अद्भुत उदाहरण हैं। प्रसंगवश, ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें स्थापत्यमें बृहत् परिमाण या मूर्तिकलामें महान् घनीभूत आकारोंके समावेशपर गहरी आपत्ति है और यहां इनकी उपयुक्तता या आवश्यकता-की ओर वे ध्यानतक नहीं देते, यद्यपि साहित्यमें वे इन चीजोंको मान्यता देते हैं। फिर भी इतनी चीज इसमें अवश्य है और इसके साथ ही एक प्रकारकी भीषण प्रभावशालिता भी है, पर एकसूत्रता, स्पष्टता और महानताका नाम-निशानतक नहीं है। यह टिप्पणी मेरी विचार-शक्तिको पर्याप्त स्व-विरोधात्मक प्रतीत होती है, क्योंकि मेरी समझमें ही नहीं आता कि किसी एकसूत्रताके बिना हलकी या भारी कोई भी रचना अद्भुत सृष्टि कैसे हो सकती है,—परंतु लगता ऐसा है कि यहां इसका नाम-निशानतक नहीं है,—अथवा किसी भी प्रकारकी महानता या श्रेष्ठताके बिना विराट् प्रभावशालिता हो ही कैसे सकती है, चाहे यह मान भी लिया जाय कि यह श्रेष्ठता दैवी नहीं दानवी है। वे हमें बताते हैं कि यहां प्रत्येक चीज बहुत ही भारी-भरकम है, प्रत्येक चीज अत्यधिक श्रमसे निर्मित की गयी है और इसके अत्यंत प्रमुख भाग, जो टेढ़ी-मेढ़ी अर्द्ध-मानवीय आकृतियोंसे ठसाठस भरे हुए और विकृत हैं, स्थापत्य-कलाकी दृष्टिसे एकदम निरर्थक हैं। कोई पूछ सकता है कि उन्हें कैसे पता लगा कि ये अर्थहीन हैं जब कि वे प्रायः स्वीकार करते हैं कि इनका अर्थ ढूंढ़नेके लिये उन्होंने कुछ भी यत्न नहीं किया है, बल्कि अपने अज्ञानको जिसे उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है तथा अर्थके समझनेमें अपनी असमर्थताको पर्याप्त मानकर उससे स्व-संतुष्ट रहते हुए यह कल्पना भर कर ली है कि इनका कोई भी अर्थ नहीं हो सकता? और इस सारी चीजका लक्षण वे इन शब्दोंमें व्यक्त करते हैं कि यह राक्षसों, नरभक्षी दैत्यों और पिशाचोंके द्वारा रचित एक भयावह वस्तु है, एक प्रकांड बर्बरता है। उत्तरकी इमारतें उनकी आंखोंमें कुछ कम अनादरकी पात्र हैं, परंतु आखिरकार अंतर थोड़ा ही है या बिलकुल नहीं है। उनमें भी वही भारीपन है, हलकेपन और श्रीसुषमाका अभाव है, खुदे हुए बेल-बूटोंकी और भी अधिक प्रचुरता है; ये भी बर्बर कृतियां हैं। केवल मुस्लिम स्थापत्य-कलाको, जिसे भारत-मुस्लिम स्थापत्य कहा जाता है, इस व्यापक रूपसे प्रयुक्त दोषारोपणसे मुक्त रखा गया है।

यहां प्रारंभमें दृष्टिकी अंधता चाहे कितनी ही स्वाभाविक हो तो भी अंततः यह कुछ आश्चर्यजनक ही है कि इस चरम कोटिके आक्रामक भी,—क्योंकि उन्हें यह तो निश्चय ही

मालूम होगा कि एकत्वके बिना किसी भी कला, किसी भी प्रभावशाली रचनाका अस्तित्व नहीं हो सकता,——एक बार भी अपने-आपसे यह पूछनेके लिये न रुकें कि क्या आखिर यहां एकत्वका कोई तत्त्व है ही नहीं जो उनकी दृष्टिसे छूट गया हो क्योंकि वे विजातीय धारणाओंको लेकर आये हैं और उन्होंने वस्तुओंको गलत सिरेसे देखा है, और इस न्यायाधीशीय निर्णयकी घोषणा करनेसे पहले एक अधिक तटस्थ और ग्रहणशील रूपमें अपनी आंखके नीचेकी वस्तुके सामने प्रतीक्षा करनेका धैर्य न रखें और यह देखें कि क्या ऐसा करनेपर एकत्वका कोई रहस्य प्रकट नहीं होता। पर एक अधिक सहानुभूतिपूर्ण और कम उग्र आलोचक ही सीधे उत्तरका पात्र होता है। अब, यह तो सहज ही स्वीकार किया जा सकता है कि इस स्थापत्यकी एकताको तुरंत देख लेनेमें असफलता पाना यूरोपीय आंखके लिये पूर्णतः स्वाभाविक है, क्योंकि एकता अपने उस अर्थमें जिसमें कि पश्चिमी विचार इसकी मांग करता है, अर्थात् यूनानी एकता जो व्योरे और परिस्थितिको बहुत अधिक दबाकर एवं उसका परिमित उपयोग करके प्राप्त की जाती है या यहांतक कि गाथिक एकता भी जो प्रत्येक वस्तुको एक ही आध्यात्मिक अभीप्साके सांचेमें ढालकर प्राप्त की जाती है, इसमें नहीं है। और जो महत्तर एकता इसमें वास्तवमें है उसतक हमारी पहुंच कभी हो ही नहीं सकती यदि आंख आदिसे अंततक रूप, व्योरे और सजावटपर ही केंद्रित रहे, क्योंकि तब वह पुनः-पुनः इन्हीं चीजोंसे अभिभूत होती रहेगी और इनसे परे उस एकतातक पहुंचनेमें कठिनाई अनुभव करेगी जिसके समग्र रूपके अंदर ये सब चीजें स्वयं अपने-आपको उतना प्रकट करनेका नहीं जितना कि उसमेंसे प्रकट होनेवाली चीजसे उसे भर देनेका और बहुलताके द्वारा उसके एकत्वको स्पष्ट रूपसे उभार देनेका कार्य करती हैं। एक मूल एकत्व ही, संयुक्त या समन्वयात्मक या कृत्रिम एकता नहीं, वह चीज है जिससे यह कला आरंभ होती है और जिसकी ओर इसकी कृति पूरी होनेपर लौट जाती है, वरंच जिसमें वह ऐसे निवास करती है जैसे अपनी आत्मा एवं स्वाभाविक वातावरणमें। भारतकी पवित्र वास्तुकला अपनी विश्व-योजनाकी विशालतामें, आत्म-अभिव्यक्तिकी अपनी विशेषताओं, **लक्षण**, की बहुलतामें आत्मा, विराट् एवं अनंतके महत्तम एकत्वको पद-पदपर प्रकट करती है (तो भी उनकी समष्टिसे अधिक महान् है तथा उससे स्वतंत्र रूपमें अवस्थित है और अपने-आपमें वह शब्दातीत है), और इसका विचारगत एकताका समस्त आरंभ-स्थल, इसकी योजनाका स्तूप और साधन-सामग्रीकी विपुलता, इसकी अर्थपूर्ण साज-सज्जा और व्योरेकी सघन प्रचुरता और एकत्वकी ओर इसका लौटना——ये सभी अनंतकी इस कविता, इस महाकाव्य या इस गीति-काव्यकी (क्योंकि ऐसी लघुतर रचनाएं भी हैं जो ऐसे गीति-काव्य हैं) आवश्यक अवस्थाओंके रूपमें ही समझमें आ सकते हैं। पश्चिमी मनोवृत्ति——उन लोगोंकी मनोवृत्तिको छोड़कर जो इस अंतर्दृष्टिकी ओर आ रहे या लौट रहे हैं, क्योंकि एक समय यूरोपमें भी उसके अपने ढंगका इस प्रणालीका कुछ अंश था——एक ऐसी कलाके सत्य और आशयको

सराहनेमें कठिनाई महसूस कर सकती है जो सत्ताको उसके खंडोंमें नहीं बल्कि अखंड रूपमें चित्रित करनेका यत्न करती है; परंतु मैं उन भारतीय विचारकोंको जो इन आलोचनाओंसे विक्षुब्ध हैं, अथवा वस्तुओंको देखनेके पश्चिमी ढंगसे अंशतः या सामयिक रूपमें अभिभूत हैं, आमंत्रित करना चाहता हूं कि वे इस विचारके प्रकाशमें हमारी गृह-निर्माण-कलापर दृष्टि-पात करें और देखें कि छोटे-मोटे आक्षेपोंके सिवा सभी आक्षेप उस समय तुरंत ही गायब हो जाते हैं या नहीं, जब कि वास्तविक अर्थ अपनी अनुभूति कराता है और उस प्रथम अवर्णनीय धारणा एवं भावोद्रेकको रूप देता है जिसे हम भारतीय शिल्पियोंकी महत्तर रचनाओंके सम्मुख अनुभव करते हैं।

भारतीय स्थापत्यके इस अध्यात्म-सौंदर्यात्मक सत्यका मूल्यांकन करनेके लिये सबसे अच्छा यह होगा कि पहले हम किसी ऐसी कृतिको देखें जिसमें ऐसी परिस्थितियोंकी जटिलता न हो जिनका अब बहुधा उस भवनसे सामंजस्य नहीं होता, वह कृति उन मंदिर-प्रधान नगरोंसे भी बाहर होनी चाहिये जो अभीतक धार्मिक उद्देश्यके ऊपर निर्भर करते हैं, बल्कि वह किसी ऐसे स्थानपर होनी चाहिये जहां प्रकृतिकी स्वतंत्र पार्श्वभूमिके लिये अवकाश हो। मेरे सामने दो मुद्रित चित्र हैं जो सुचारु रूपसे इस प्रयोजनकी पूर्ति कर सकते हैं, एक तो कालहस्तीका मंदिर है और दूसरा सिंहाचलम्का मंदिर, ये दो ऐसी वास्तु-कृतियां हैं जो निर्माणशैलीमें तो सर्वथा भिन्न हैं पर अपने मूल आधार और व्यापक उद्देश्यमें एक ही हैं। इन्हें देखनेका सीधा तरीका यह है कि मंदिरको उसके परिपार्श्वसे पृथक् न किया जाय, बल्कि उसे आकाश तथा नीचेके भूभागके दृश्यके साथ या आकाश और चारों ओरकी पहा-ड़ियोंके साथ एकतामें देखा जाय और उस वस्तुको अनुभव किया जाय जो भवन और उसके परिपार्श्व दोनोंमें समान रूपसे विद्यमान है, अर्थात् प्रकृतिमें विद्यमान सद्वस्तु और कला-कृति-में प्रकट की गयी सद्वस्तुको अनुभव किया जाय। वह एकत्व जिसके लिये यह प्रकृति अपनी निश्चेतन स्व-सृष्टिमें अभीप्सा करती है और जिसमें वह निवास करती है, तथा वह एकत्व जिसकी ओर मनुष्यकी अंतरात्मा अपने सचेतन आध्यात्मिक निर्माणमें, अपने-आपको ऊपर उठा ले जाती है,--उसका अभीप्सा-रूपी प्रयास यहां प्रस्तरमें अभिव्यक्त किया जाता है,--और जिस (एकत्व) में, इस प्रकार निर्मित होकर, वह और उसकी कृति निवास करते हैं--ये दोनों एक ही हैं और इनमें आत्मिक प्रेरक-भाव भी एक ही है। इस प्रकार देखनेपर मनुष्यकी यह कृति एक ऐसी चीज प्रतीत होती है जिसने आरंभ होकर अपने-आपको प्राकृ-तिक जगत्की शक्तिकी पार्श्वभूमिसे पृथक् कर लिया है, एक ऐसी चीज प्रतीत होती है जो दोनोंमें अपनी एक ही अनंत आत्माके प्रति एक ही सामान्य अभीप्सासे युक्त है,--एक ओर तो है (प्रकृतिकी) निश्चेतन ऊर्ध्वदृष्टि और इसके सम्मुख उपलब्धिकी आत्म-सचेतन चेष्टा और सफलताका प्रबल एकत्वयुक्त उभार। इनमेंसे एक मंदिर ऊपरकी ओर आरोहण करता है अपने उभारमें स्पष्ट और विशाल होता हुआ, शक्तिशाली पर सुनिश्चित आरोहणकी महान-

तामें ऊपर ही ऊपर पुंजीभूत, अपने विस्तार और दिशाको अंततक सुरक्षित रखता हुआ, दूसरा अपने आधारके बलसे घुमावदार बृहत् स्तूपके श्री-सौंदर्य और भावातिरेकमें गोलाकार शिखर और सर्वोच्च प्रतीककी ओर ऊंचे चढ़ता है। दोनोंमें आधारसे शिखरकी ओर एक अनवरत, सूक्ष्म पर स्पष्ट लघुत्व है, पर प्रत्येक क्रमावस्थामें उसी रूपकी पुनरावृत्ति है, आग्रहकी वही बहुलता, वही घनीभूत पूर्णता और दंतुर उभार है, परंतु इनमेंसे एक अपने बहुगुणित प्रयास और संकेतको अंततक बनाये रखता है, दूसरा अपनी परिसमाप्ति एक ही संकेतमें कर देता है। इनका गूढ़ार्थ ढूंढ़नेके लिये पहले हमें उस अनंतताके एकत्वको अनुभव करना होगा जिसमें यह प्रकृति और यह कला निवास करती हैं, तब इस पुंजीभूत अभिव्यक्तिको उस अनंत बहुलताके चिह्नके रूपमें देखना होगा जो इस एकत्वको परिपूरित करती है; अट्टालिकाके क्रमशः क्षीण होते हुए आरोहणमें, पृथ्वी-स्थित आधारसे मूल एकताकी ओर अधिकाधिक सूक्ष्म प्रत्यावर्तनको देखना होगा और शिखरपर होनेवाली इसकी समाप्तिके प्रतीकात्मक संकेतको अपनी पकड़में लाना होगा। तब एकताका अभाव नहीं बल्कि एक अत्यंत गुरुतर एकता प्रकाशमें आ जायगी। हमारी अपनी आध्यात्मिक स्वयंस्थित सत्ता और विश्वव्यापी सत्ताकी परिभाषामें इस अभिव्यक्तिका क्या अर्थ है इस बातकी फिरसे यथार्थ रूपमें व्याख्या की जाय तो वह चीज उपलब्ध हो जायगी जो इन महान् निर्माताओंने अपने अंदर देखी और प्रस्तरपर उभारी थी। एक बार जब हम आध्यात्मिक अनुभवमें इस तादात्म्यपर पहुंच जाते हैं, तब सभी आक्षेप झड़कर दूर हो जाते हैं और यह दिखला देते हैं कि वे असलमें क्या हैं——अशक्त भ्रांति, अपर्याप्त बोध और देखनेमें पूर्ण असफलताके वचन और मिथ्या आरोप। जब भारतीय स्थापत्यके समग्र स्वरूपको इस प्रकार देख और जान लिया जाता है तभी इसके व्योरोंकी सराहना करना सुगम होता है; अन्यथा, यह असंभव है।

भवनोंका और उनके रूप-निर्माणका स्वरूप चाहे कितने ही भिन्न क्यों न हों, व्याख्या करनेकी यह पद्धति समस्त द्राविड़ वास्तुकलापर लागू होती है, दूर-दूरतक प्रसिद्ध महान् मंदिरोंपर ही नहीं बल्कि छोटे शहरोंकी सड़कोंके किनारे बने हुए अप्रसिद्ध देवालयोंपर भी जो कि यहां उसी विषयकी एक लघुतर अभिव्यक्तिमात्र हैं, एक संतुष्ट संकेत भर हैं, जब कि महत्तर अट्टालिकाएं उसीकी एक महत्तम चरितार्थ अभीप्सा हैं। उत्तरकी स्थापत्य-कलाकी भाषा भिन्न प्रकारकी है, वहांकी आधारभूत शैली और ही है; परंतु यहां भी उसी आध्यात्मिक, ध्यानात्मक एवं अंतर्ज्ञानात्मक पद्धतिका प्रयोग करना होगा और हम उसी परिणामपर, उस एक ही आध्यात्मिक अनुभवके सौंदर्यात्मक विवरण या संकेतपर पहुंचेंगे जो अपनी समस्त जटिलता और विभिन्नतामें एक है और जो भारतीय आध्यात्मिकता एवं धार्मिक अनुभूतिके अनंत विभेदोंकी एकताकी तथा भगवान्के साथ मानव आत्माके उपलब्ध एकत्वकी स्थापना करता है। यही इस धार्मिक कलाकी समस्त कृतियोंकी एकता भी है। विभिन्न

शैलियां और उद्देश्य विभिन्न मार्गोंसे उस एकतापर पहुंचते या उसे व्यक्त करते हैं। यह आक्षेप कि संकुल ब्योरे और साज-सज्जाकी अधिकता एकताको छिपा देती, क्षत-विक्षत या छिन्न-भिन्न कर डालती है, केवल इसलिये किया जाता है कि आंखने इस मूल आध्यात्मिक एकत्व-के साथ संबंध जोड़े बिना सर्वप्रथम ब्योरेपर ही ध्यान केंद्रित करनेकी भूल की है, पर असल-में पहले उस एकत्वको ही एक यथार्थ आध्यात्मिक दर्शन और मिलनमें स्थिर रूपसे प्रति-ष्ठित करना होगा और उसके बाद अन्य सब चीजोंको उस अंतर्दर्शन और अनुभवमें ही देखना होगा। जब हम जगत्के बहुत्वपर दृष्टिपात करते हैं तो हम केवल एक सघन अनेकताको ही देख सकते हैं और एकतापर पहुंचनेके लिये हमें देखी हुई चीजोंमें काट-छांट करनी एवं उन्हें दबाना पड़ता है अथवा परिमित रूपमें कुछ एक संकेतोंको चुन लेना होता है या फिर इस या उस पृथक् विचार, अनुभव या कल्पनाकी एकतासे ही संतुष्ट होना पड़ता है; परंतु जब हम आत्माको, अनंत एकताको अनुभव करके जगत्के बहुत्वकी ओर दृष्टि फेरते हैं तब हम देखते हैं कि वह एकत्व विविधता और परिस्थितिकी उस समस्त अनंतता-को वहन करनेमें समर्थ है जिसे हम उसके अंदर एकत्र कर सकते हैं और उसकी एकता अपनी अनुप्राणित करनेवाली सृष्टिके अत्यंत असीम रूपसे अपने-आपको बढ़ा देनेसे भी कदापि नहीं घटती। इस वास्तुकलापर दृष्टिपात करनेपर भी हम यही चीज पाते हैं। भारतीय मंदिरोंमें सज्जा, ब्योरे और परिस्थितिका ऐश्वर्य लोकोंकी,——हमारे लोककी ही नहीं बल्कि सभी स्तरोंकी,——अनंत विविधता और आवृत्तिको प्रकट करता है, अनंत एकत्वके अनंत बहुत्वको सूचित करता है। यह हमारे अपने अनुभवपर तथा अंतर्दर्शनकी पूर्णतापर निर्भर करता है कि हम कितना बाहर छोड़ देते हैं और कितना ग्रहण कर लेते हैं, आया हम इतना अधिक व्यक्त करते हैं या इतना कम अथवा द्राविड़ शैलीकी भांति एक प्रचुर अखूट पूर्णताकी छाप बिठानेका यत्न करते हैं। इस एकताकी विशालता वह आधार एवं प्रदेश है जो अपने ऊपर बननेवाले किसी भी भवनके लिये या बहुलताके किसी भी परिमाणके लिये पर्याप्त है।

इस बाहुल्यको बर्बरतापूर्ण कहकर इसकी निंदा करना एक विदेशी मानदंडका प्रयोग करना है। आखिरकार हम कहांपर सीमा-रेखा खींच सकते हैं? एक समय था जब शुद्ध उच्चकोटिक रुचिवालोंको शेक्सपीयरकी कला एक ऐसे ही कारणसे महान् पर बर्बर प्रतीत होती थी,——हमें उसका वह गैलिक (Galic)[1] वर्णन याद हो आता है जिसमें उसे प्रतिभा-संपन्न उन्मत्त बर्बर कहा गया है,——उसकी कलात्मक एकता उन्हें घटना और चरित्र-रूपी सघन उष्णप्रदेशीय पौधोंके कारण असत् या विकृत प्रतीत होती थी और उसकी प्रचुर कल्पनाएं उग्र, अतिरंजित, कभी-कभी तो किंभूत-किमाकार और भयानक, सामंजस्य, अनु-पात तथा अन्य सभी विशद एकताओं, लालित्यों और सुषमाओंसे रहित मालूम होती थीं

[1]गाल या प्राचीन फ्रेंच लेखकोंके द्वारा किया हुआ।——अनुवादक

जिन्हें उच्च श्रेणीके प्राचीन लेखकोंका मन पसंद करता था। वह मन मि. आर्चरकी-सी भाषामें उसकी कृतिके संबंधमें कह सकता है कि निःसंदेह यहां एक प्रकांड प्रतिभा है, शक्तिका एक पुंज है, पर एकता, स्पष्टता एवं उच्चकोटिक श्रेष्ठताका कोई चिह्न नहीं है बल्कि उज्ज्वल सौंदर्य, लाघव और संयमका नितांत अभाव है, किसी नियम-मर्यादाके बिना अशिष्ट अलंकार और कल्पना-विलासकी बहुलता है, क्लिष्ट कल्पनासे उद्भावित अलंकार हैं, विकृत स्थितियां और भाव-मुद्राएं हैं, कोई महत्ता नहीं है, कोई सुंदर, यथोचित, तर्कसंगत एवं स्वाभाविक और सुंदर उच्चकोटिक गतिविधि एवं भावभंगिमा नहीं है। परंतु कठोरसे कठोर, प्राचीन लैटिन मन भी अब शेक्सपीयरकी इस "भव्य बर्बरता"के प्रति अपने आक्षेपोंसे ऊपर उठ चुका है और यह समझ सकता है कि यहां जीवनके विषयमें एक अधिक पूर्ण, कम सीमित एवं कम क्षुद्र अंतर्दृष्टि है, प्राचीन सौंदर्यबोधकी प्रथानुगत एकताओंकी अपेक्षा एक अधिक महान् अंतर्ज्ञानात्मक एकता है। परंतु जगत् और जीवनके विषयमें भारतीय अंतर्दृष्टि शेक्सपीयरकी दृष्टिसे अधिक विशाल और पूर्ण थी, क्योंकि वह केवल जीवनको ही नहीं बल्कि समस्त सत्ताको, केवल मानवजातिको ही नहीं बल्कि समस्त लोकों तथा संपूर्ण प्रकृति एवं विश्वको अपने अंदर समाविष्ट करती थी। यूरोपीय मन, कुछ एक व्यक्तियोंको छोड़कर समष्टि-रूपसे अनंत आत्मा या वैश्व-चेतनाकी अनंत बहुत्वसे परिपूरित एकताकी किसी घनिष्ठ, प्रत्यक्ष और सुदृढ़ उपलब्धिपर नहीं पहुंचा है और इसलिये वह इन चीजोंको व्यक्त करनेके लिये प्रेरित नहीं होता, और जब ये इस पौरस्त्य कला, भाषा और शैलीमें व्यक्त की जाती हैं तो इन्हें वह न तो समझ पाता है और न सहन ही कर सकता है तथा इस कलापर उसी प्रकार आक्षेप करता है जिस प्रकार किसी समय लैटिन मन शेक्सपीयरपर करता था। शायद वह दिन दूर नहीं जब वह भी इन्हीं चीजोंको देखे-समझेगा और शायद स्वयं भी इन्हें किसी और भाषामें प्रकट करनेका यत्न करेगा।

यह आक्षेप कि ब्योरोंकी संकुलता शांतिके लिये अवकाश नहीं देती, आंखको आराम या कोई रिक्त स्थान नहीं देती उसी शीर्षकके नीचे आता है, उसी जड़से फूटता है, एक भिन्न प्रकारके अनुभवसे प्रेरित होता है और भारतीय अनुभवके लिये जरा भी यथार्थ नहीं है। क्योंकि, यह एकता जिसपर सब कुछ आधारित है, अपने अंदर आध्यात्मिक उपलब्धिके असीम अवकाश और शांतिको धारण करती है, और इसमें किसी हीनतर एवं स्थूलतर ढंगकी शांतिके किन्हीं अन्य रिक्त अवकाशों या प्रदेशोंकी कोई आवश्यकता नहीं। आंख यहां अंतरात्माकी ओर पहुंचनेका एक मार्गमात्र है, यहां जो आकर्षण है वह तो उसी आत्माके प्रति है, और यदि इस उपलब्धिमें निवास करनेवाली या इस सौंदर्यात्मक अनुभूतिके प्रभावके अधीन रहनेवाली अंतरात्माको किसी प्रकारके विश्रामकी आवश्यकता है तो वह जीवन और रूप के संसर्गसे नहीं वरन् अनंतता और प्रशांत नीरवताकी उस विशालताके अमित क्षेत्रसे है, और वह केवल इसके विपरीत क्षेत्रके द्वारा ही, अर्थात् रूप, ब्योरे और जीवनकी बहुलता-

के द्वारा ही दिया जा सकता है। जहांतक द्राविड़ स्थापत्यके संबंधमें इसकी बृहदाकारता और विशालकाय रचनाके प्रति आक्षेपका प्रश्न है, वह यथार्थ आध्यात्मिक प्रभाव जिसे उत्पन्न करना यहां अभिप्रेत है, किसी और तरहसे उत्पन्न ही नहीं किया जा सकता; क्योंकि अनंत एवं विराट्को यदि उसकी विशाल अभिव्यक्तिके अंदर समग्र रूपमें देखा जाय तो वह विराट्काय ही है, उपादान और शक्तिमें अति महान् ही है। वह इससे अन्य तथा सर्वथा भिन्न वस्तुएं भी है, परंतु भारतीय रचनामें इनमेंसे किसीका भी अभाव नहीं है। उत्तरके महान् मंदिर मि. आर्चरके फतवेके बावजूद भी अपनी शक्तिमें प्रायः अद्वितीय सौंदर्य रखते हैं, उनमें एक सुस्पष्ट सूक्ष्मता है जो उनके प्रधान स्वरूप और शक्तिको उभारती है, उनकी अलंकृत पूर्णतामें सुषमाकी एक समृद्ध कोमलता है। निःसंदेह वह यूनानी सूक्ष्मता, स्पष्टता या खुली हुई महत्ता नहीं है और न वह ऐकांतिक ही है, बल्कि वह विपरीत तत्त्वोंके एक सुन्दर संश्लेषणके रूपमें प्रकट होती है जो भारतीय धार्मिक, दार्शनिक और सौंदर्यप्रिय मनके स्वयं मूलभावमें ही निहित है। यह बात भी नहीं है कि अनेक द्राविड़ इमारतोंमें इन चीजोंका अभाव हो, यद्यपि कुछ शैलियोंमें इनका साहसके साथ बलिदान कर दिया गया है या फिर इन्हें केवल छोटी-मोटी प्रासंगिक वस्तुओंके रूपमें ही स्थान दिया गया है,—इस प्रकारके एक दृष्टांतमें मि. आर्चर यह कहकर आनंद लेते हैं कि इस पुंजीभूत शक्ति और महानताके जो उसकी समझसे बाहर है, मरुस्थलमें यह एक मरुद्वीप है,—परंतु दोनों ही अवस्थाओंमें इन्हें दबा दिया गया है जिससे कि गंभीर और आकर्षक प्रभावकी पूर्णता एक समग्र और अविकल अभिव्यक्तिको प्राप्त कर सके।

कुछ एक विरोधी आलोचनाएं इनसे भी अधिक तुच्छ कोटिकी हैं जिनपर मुझे विचार करनेकी आवश्यकता नहीं,—उदाहरणार्थ, मेहराब और गुंबजके भारतीय रूपसे इसलिये घृणा करना कि वे अन्य शैलियोंकी मेहराब और गुंबजकी भांति चमक-दमकवाले नहीं हैं। यह तो केवल अनभ्यस्त रूपोंके सौंदर्यको स्वीकार करनेसे असहिष्णुतापूर्वक इन्कार करना है। अपनी निजी चीजोंको जिनके लिये हमारा मन और प्रकृति सधे हुए हैं, अधिक पसंद करना ठीक है, परंतु दूसरोंकी कला और प्रयासकी इसलिये निंदा करना कि वह भी सुंदरता, महानता और आत्म-अभिव्यक्तिपर पहुंचनेके अपने निजी ढंगको अधिक अच्छा समझता है, एक ऐसी संकीर्णता है जो अधिक उदार संस्कृतिके विकासके साथ दूर हो जानी चाहिये। किंतु द्राविड़ मंदिर-निर्माण-कलापर एक टिप्पणी ऐसी है जो ध्यान देने योग्य है क्योंकि वह मि. आर्चर और उनकी बिरादरीके लोगोंसे भिन्न लोगोंके द्वारा की गयी है। प्रोफेसर गैडिज (Geddes) जैसे सहानुभूतिशील विचारकपर भी इन महान् मंदिरोंमें त्रास और विषादके भीषण प्रभावकी किसी अनुभूतिकी छाप पड़ती है। ऐसा कथन भारतीय मनके लिये आश्चर्यजनक है, क्योंकि अपने धर्म, कला या साहित्यके द्वारा उसके अंदर जो भाव जागृत होते हैं उनमें त्रास और विषादका स्पष्ट रूपसे अभाव होता है। धर्ममें तो ये भाव

विरले ही जागृत होते हैं और जब होते भी हैं तो तुरंत समाधान हो जानेके लिये ही और, जब वे आते भी हैं तो, अपने पीछे अवस्थित एक धारक और सहायक उपस्थिति, एक सनातन महत्ता और स्थिरता या प्रेम या परमानंदकी अनुभूतिके द्वारा सदा ही धारित रहते हैं; स्वयं संहारकी देवीतक एक संग ही करुणामयी और प्रेममयी मां भी हैं; उग्र **महेश्वर--रुद्र--शिव** अर्थात् मंगलकारी भी हैं और **आशुतोष** अर्थात् मनुष्योंके शरणदाता भी। भारतीय चिंतनात्मक और धार्मिक मन, उन सब चीजोंपर जो विश्वके विशाल दृश्यके अंदर उसके सामने आती हैं, शांतिके साथ, घृणा या जुगुप्साके बिना, तादात्म्य और एकत्वके लिये किये गये अपने युग-व्यापी प्रयाससे उत्पन्न बोधशक्तिके साथ दृष्टिपात करता है। और उसका वैराग्य अर्थात् जगत्से पराङमुखता भी जो भय और विषादमें नहीं बल्कि असारता और क्लांतिकी, या जीवनसे अधिक उच्च, अधिक सत्य और अधिक सुखमय किसी वस्तुकी अनुभूतिमें जन्म लेती है, शीघ्र ही निराशावादी विषादके किसी तत्त्वसे परे शाश्वत शांति और आनंदके परमोल्लासमें परिणत हो जाती है। भारतीय ऐहलौकिक काव्य एवं नाटक आद्योपांत समृद्ध, प्राणवंत और हर्षपूर्ण है और यूरोपीय कृतिके किन्हीं थोड़ेसे पृष्ठोंमें भी उससे अधिक दुःख, भय-त्रास, शोक और विषाद भरा पड़ा है जितना कि संपूर्ण भारतीय वाङमयमें ढूंढ़नेपर मिल सकता है। मेरा ख्याल है कि भारतीय कला इस बातमें भारतीय धर्म और साहित्यसे जरा भी भिन्न नहीं है। पश्चिमी मन यहां वस्तुओं-विषयक अपनी अभ्यस्त प्रतिक्रियाओंको हमारी उस देशीय परिकल्पनामें घुसेड़ रहा है जिसमें उनके लिये अपना कोई उपयुक्त स्थान नहीं है। शिवके नृत्यकी यह अजीब और मिथ्या व्याख्या ध्यान देने योग्य है कि यह मृत्यु या संहारका नृत्य है जब कि, जैसा किसी भी व्यक्तिको जो नटराजपर दृष्टि डालता है, देख सकना चाहिये कि शिवका नृत्य, उक्त व्याख्याके विपरीत, सृष्टि-नृत्यके उस परमोल्लासको प्रकट करता है जिसके पीछे अविचल, शाश्वत और असीम आनंदकी गहराइयां विद्यमान हैं। इसी प्रकार, हम जानते ही हैं कि, कालीकी मूर्ति जो यूरोपीय आंखोंके लिये इतनी भयानक है, असलमें जगत्की माता है जो असुरोंका, मनुष्य और जगत्में विद्यमान अशुभकी शक्तियोंका वध करनेके लिये ही संहारका यह उग्र रूप ग्रहण करती है। पश्चिमी मनके इस भावमें कुछ अन्य तत्त्व भी हैं जो ऐसी किसी भी चीजके प्रति घृणासे उत्पन्न होते दीखते हैं जो मानवीय प्रतिमानके बहुत ही ऊपर उठी हुई हो और फिर इसमें कुछ अन्य ऐसे तत्त्व भी हैं जिनमें हम उस ग्रीक अक्षमताका एक सूक्ष्म अवशेष देखते हैं जिसके कारण प्रफुल्ल पार्थिव यूनानी मन साधारणतः परतत्त्व, असीम एवं अज्ञातके विचारको भय, विषाद और विरक्तिके भावके साथ देखता था; परंतु भारतीय मनोवृत्तिमें उस प्रतिक्रियाका कोई स्थान नहीं। और जहांतक कुछ एक अमानवीय आकृतियोंकी विचित्रता या उनके भीषण रूपका अथवा दैत्यों या राक्षसोंकी परिकल्पनाका प्रश्न है, हमें यह स्मरण रखना होगा कि भारतीय सौंदर्यप्रेमी मन केवल भूलोकके साथ ही नहीं वरन्

आंतरात्मिक स्तरोंके साथ भी, जिनमें ये चीजें अस्तित्व रखती हैं, व्यवहार करता है और उनसे अभिभूत हुए बिना उनमें स्वतंत्रतापूर्वक विचरण करता है क्योंकि वह सर्वत्र आत्मा या भगवान्‌की शक्ति एवं सर्वव्यापकतामें महान् विश्वासकी छापको अपने साथ लिये रहता है।

मैंने हिंदू और विशेषकर द्राविड़ स्थापत्य-कलापर ही विचार किया है क्योंकि द्राविड़ स्थापत्यपर यों कहकर सर्वाधिक उग्रताके साथ आक्रमण किया गया है कि यह यूरोपीय रुचिके लिये संपूर्ण रूपसे विजातीय है और इसके साथ किसी प्रकारका समझौता करनेकी गुंजाइश नहीं। परंतु एक शब्द भारत-मुस्लिम स्थापत्यके विषयमें भी कह दें। मुझे किसी ऐसे दावेका समर्थन करनेसे कोई मतलब नहीं कि इसकी विशेषताओंका उद्‌गम शुद्ध रूपसे स्वदेशीय ही है। मुझे तो यह लगता है कि यहां भारतीय मनने अरबी और फारसी कल्पनासे बहुत कुछ लिया है और कुछ मस्जिदों तथा मकबरोंमें तो मुझे दृढ़ और साहसी अफगानी एवं मुगल स्वभावकी छाप विद्यमान दिखायी देती है; परंतु यह बात पर्याप्त रूप-में स्पष्ट दिखायी देती है कि फिर भी यह कुल मिलाकर विशिष्ट भारतीय देनसे युक्त एक ठेठ भारतीय कृति ही है। सज्जा-संबंधी कुशलता और कल्पनाके वैभवको एक अन्य शैलीके उपयोग करने योग्य बना दिया गया है, किंतु यह वही कौशल है जिसे हम उत्तरके हिंदू मंदिरोंमें पाते हैं, और पृष्ठभूमिमें हम कभी-कभी, हलके रूपमें ही सही, प्राचीन महान् सामग्री और शक्तिका कुछ अंश देखते हैं, पर बहुधा वह काव्योचित सुषमा देखते हैं जिसे हम स्वदेशीय मूर्तिकलामें मुसलमानोंके आनेसे पहले विकसित होती हुई पाते हैं,—जैसे, उत्तर-पूर्व और जावाकी कला-शैलीमें,—और कभी-कभी तो दोनों उद्देश्योंका मिश्रण भी देखते हैं। सामग्री और शक्तिकी परिमितता एवं मृदुतासे सामान्य यूरोपीय मनको बड़ा सुख पहुंचता है और वह उसका अनुमोदन करता है। परंतु वह कौनसी चीज है जिसकी वह इतनी अधिक सराहना करता है? मि. आर्चर सबसे पहले हमें बताते हैं कि यह उसकी बुद्धिग्राह्य सुंदरता, सूक्ष्मता और श्री-सुषमा है जो स्वाभाविक और उज्ज्वल है तथा हिंदुओंके यौगिक भ्रम और दुःस्वप्नके भीषण हंगामेके बाद तरोताजा करनेवाली है। यह वर्णन जो यूनानी कलाके बारेमें किया जा सकता था यहां मुझे भद्दा और अनुपयुक्त प्रतीत होता है। तुरत इसके बाद ही वह एक बिलकुल अन्य तथा असंगत बातका राग अलापता है, और इसे एक अत्यु-त्कृष्ट वास्तुकलाका परी-राज्य कहता है। बुद्धिसंगत परी-राज्य एक आश्चर्य है जो उन्नीस-वीं और बीसवीं सदीके मनोंके किसी विचित्र पारस्परिक संयोगसे शायद भविष्यमें तो आविष्कृत हो जाय पर मेरे विचारमें अभीतक तो इसका अस्तित्व भूतलपर या स्वर्गमें कहीं भी नहीं है। बुद्धिसंगत नहीं बल्कि जादूभरा सौंदर्य ही जो हमारे अंदरकी किसी गभीरतर एवं सर्वथा अतिबौद्धिक सौंदर्यप्रेमी अंतरात्माको संतुष्ट और मोहित करता है, इन कृतियोंकी अवर्णनीय मोहिनी-शक्ति है। तथापि, किन स्थानोंमें वह जादू हमारे समालोचकको स्पर्श करता है? वे हमें पत्रकारकी-सी उल्लासपूर्ण शैलीमें बतलाते हैं। ये हैं संगमरमरपर बनी

अत्युत्कृष्ट नक्काशियां, सुंदर गुंबज और मीनारें, कब्रपर बने शानदार मकबरे, आश्चर्यजनक खुली गैलरियां और खंभोंपर बनी मेहराबें, खंभोंके निचले भागमें बनी सुंदर चौकियां और चबूतरे, शाही फाटक आदि। तो क्या यही सब कुछ है? केवल बाह्य भौतिक ऐश्वर्य-विलास और ठाठबाटका जादू? हां; मि. आर्चर हमें पुनः बताते हैं कि यहां हमें किसी नैतिक प्रेरणासे रहित चाक्षुष, इंद्रियभोग्य सौंदर्यसे ही संतुष्ट रहना होगा। और यह बात उन्हें एक विनाशकारी निंदाके रूपमें अपना मत प्रकाशित करनेमें सहायता देती है जिसके बिना वे भारतीय वस्तुओंके साथ बरतनेमें प्रसन्नता नहीं अनुभव कर सकते : यह मुस्लिम स्थापत्य केवल उद्दाम विलासिताको ही नहीं बल्कि स्त्रैणता और अधोगतिको सूचित करता है! परंतु यदि ऐसा ही हो तो, इसका सौंदर्य चाहे कितना ही क्यों न हो, यह, पूर्ण रूपसे, कलात्मक सृजनके एक गौण स्तरसे ही संबंध रखता है और हिंदू निर्माताओंकी प्रस्तरपर अंकित महान् आध्यात्मिक अभीप्साओंके समकक्ष नहीं हो सकता।

मैं वास्तुकलासे "नैतिक प्रेरणाओं" की मांग नहीं करता, पर क्या यह सच है कि इन भारत-मुस्लिम इमारतोंमें एक ऐंद्रिय बाह्य सौंदर्य-सुषमा और ऐश्वर्य-विलासके सिवा और कुछ नहीं है? अधिक महान् विशिष्ट कृतियोंके संबंधमें यह बात बिलकुल ही सच नहीं है। ताजमहल केवल एक शाही प्रेमकी ऐंद्रिय स्मृति या चंद्रलोकके चमकदार पत्थरोंसे बनाया हुआ परियोंका जादू नहीं है, बल्कि मृत्युके बाद भी जीवित रहनेवाले प्रेमका एक शाश्वत स्वप्न है। महान् मस्जिदें प्रायः एक उच्च तपोभावनातक उठी हुई धार्मिक अभीप्साको साकार रूप देती हैं जो गौणभूत साज-सज्जा और श्री-शोभाको प्रश्रय देती है और उससे क्षीण नहीं होती। मकबरे मृत्युसे परे स्वर्गके सौंदर्य और आनंदतक पहुंचते हैं। फतेहपुर-सीकरीकी इमारतें स्त्रैण भोग-विलासमय पतनके स्मारक नहीं हैं,—अकबरके समयके मनका यह एक मूर्खतापूर्ण वर्णन है,—बल्कि वे एक ऐसी महानता, शक्ति और सुषमाको रूप देती हैं जो भूतलको अपने अधिकारमें कर लेती हैं पर उसके कीचमें लोटती नहीं। इसमें संदेह नहीं कि यहां प्राचीनतर भारतीय मनका विशाल आध्यात्मिक तत्त्व नहीं है, किंतु फिर भी यह एक भारतीय मन ही है जो इन मनोहर रचनाओंमें पश्चिमी एशियाके प्रभावको आत्मसात् कर लेता है और ऐंद्रिय तत्त्वपर भी बल देता है जैसा कि पहले कालिदासके काव्यमें दिया गया था, पर साथ ही यह इसे किसी अभौतिक सौंदर्यकी ओर भी उठा ले जाता है, प्रायः भूतलको पूर्ण रूपसे छोड़े बिना इससे उठकर मध्य लोकके जादू-भरे सौंदर्यमें जा पहुंचता है और धार्मिक वृत्तिके साथ पवित्र हाथसे भगवान्के आंचलोंको जा छूता है। सर्वतोव्यापी आध्यात्मिक तल्लीनता तो यहां नहीं है पर जीवनके अन्य तत्त्व जिनकी भारतीय संस्कृति उपेक्षा नहीं करती और जिन्हें अतिप्राचीन श्रेष्ठ युगसे इसका समर्थन प्राप्त होता आया है, यहां एक नये प्रभावके अधीन व्यक्त किये गये हैं और अभीतक भी एक उत्कृष्ट दीप्तिकी किसी उज्ज्वल आभासे ओतप्रोत हैं।

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

आठवां अध्याय

भारतीय कला

हालमें ही प्राचीन भारतकी मूर्तिकला और चित्रकला अधिक संस्कृत यूरोपीय आलोचकोंकी दृष्टिमें आश्चर्यजनक रूपसे हठात् अपने पदपर पुनः प्रतिष्ठित हो गयी हैं, क्योंकि अब पश्चिमी मन पूर्वीय विचार और सृजनके मूल्यकी ओर शीघ्रतासे खुल रहा है और यह उस परिवर्तनके अत्यंत महत्त्वपूर्ण चिह्नोंमेंसे है जो अभी केवल अपनी आरंभिक अवस्थामें ही है। जहां-तहां सूक्ष्म अनुभूति और गंभीर मौलिकतावाले कुछ ऐसे विचारक भी हुए हैं जिन्होंने पूर्वीय कलाकी प्राचीन और अटल स्वतंत्रताकी ओर मुड़ते हुए यह देखा है कि यह कला एक अनुकरणात्मक यथार्थवादके द्वारा आबद्ध या उसके कारण पदच्युत होनेसे इन्कार करती है, इस सच्चे सिद्धांतके प्रति अपनी निष्ठा प्रदर्शित करती है कि कला सत्ताके उन गभीरतर आंतरात्मिक मूल्योंकी अंतःप्रेरित व्याख्या है जो प्रकृतिकी बाह्य अवस्थाओंके प्रति दासतासे ऊपर उठे हुए हैं, और साथ ही यह यूरोपके सौंदर्यात्मक और सर्जनशील मनको पुनरुज्जीवित तथा बंधनमुक्त करनेका ठीक मार्ग है। और, यद्यपि पश्चिमी कलाका अधिकांश अबतक पुरानी लीकोंपर ही चल रहा है फिर भी वास्तवमें इसकी बहुत-सी अत्यंत मौलिक नवीन कृतियोंमें कुछ ऐसे तत्त्व हैं या एक ऐसी मार्गदर्शक दिशा है जो इसे पूर्वीय मनोवृत्ति एवं बोधके अधिक निकट ले आती है। सुतरां हमारे लिये यह संभव हो सकता है कि हम इस विषयको यहीं छोड़ दें और इस बातकी प्रतीक्षा करें कि समय इस नयी अंतर्दृष्टिको गहरा करे तथा भारतकी कलाके सत्य और महानताको अधिक पूर्ण रूपसे प्रमाणित करे।

पर हमारा संबंध केवल यूरोपके द्वारा किये गये हमारी कलाके आलोचनात्मक मूल्यांकनसे ही नहीं है बल्कि, कहीं अधिक घनिष्ठ रूपमें उस बुरे प्रभावसे है जो आरंभमें की गयी निंदाके कारण भारतीय मनपर पड़ा है—ऐसे मनपर जो अंग्रेजियतमें रंगी विदेशी शिक्षाके कारण दीर्घ कालतक अपने सही मार्गसे भ्रष्ट रहा है और, परिणामस्वरूप, अपने सच्चे केंद्रके खो जानेसे नीचताको प्राप्त होकर अविश्वसनीय सिद्ध हो चुका है, और इस बुरे प्रभावसे

हमें इसलिये मतलब है कि यह कलात्मक रुचि और संस्कृतिके स्वस्थ और सजीव पुनरुद्धारमें विघ्न-बाधाएं उपस्थित करता है और सृजनके नये युगका रास्ता रोकता है। कुछ ही वर्ष हुए कि शिक्षित भारतीयोंके--"शिक्षित" पर अणुमात्र भी वास्तविक संस्कृति न रखनेवाले भारतीयोंके--मनने अंग्रेजोंद्वारा किये हुए हमारी मूर्तिकला एवं चित्रकलाके इस असभ्यता-पूर्ण मूल्यांकनको संतोषपूर्वक स्वीकार कर लिया कि यह एक अविकसित घटिया कला है या यहांतक कि एक बीभत्स और अपरिपक्व मिथ्या-रचनाका स्तूप है, यद्यपि वह काल बीत गया है और अब बड़ा भारी परिवर्तन आ गया है, तथापि भूतपूर्व पश्चिमी विचारोंका भारी बोझ, सौंदर्यात्मक रुचिकी मंदता या उसका नितांत अभाव,[1] एवं मूल्य आंकनेमें अक्षमता अभीतक अत्यंत व्यापक रूपसे देखनेमें आती है, और अब भी हमें कभी-कभी एक ऐसी कोलाहलपूर्ण अंग्रेजियतके रंगमें रंगी हुई आलोचनाका स्वर सुनायी दे जाता है जो भारतीय शैलीकी सभी चीजोंकी निंदा करती है और केवल उन्हीं वस्तुओंकी प्रशंसा करती है जो पश्चिमी नियम-कानूनके साथ मेल खाती हैं। और यूरोपीय आलोचनाकी पुरानी शैलीका अब भी हमारे ऊपर कुछ प्रभाव बना हुआ है, क्योंकि हमारी वर्तमान शिक्षाप्रणालीमें सौंदर्या-त्मक या निःसंदेह किसी सच्ची सांस्कृतिक शिक्षाका अभाव होनेके कारण हम अज्ञानी और विवेकशून्य आधार बन जाते हैं जिसके परिणामस्वरूप हम ओकाकुरा (Okakura) या मि. लारेंस बिनिओन (Mr. Laurence Binyon) जैसे सुयोग्य आलोचकोंकी सुविचा-रित सम्मतियोंको और मि. आर्चरकी कोटिके पत्रकारोंकी, जो बिना किसी अधिकारके ही लेखनी चलाते हैं, क्योंकि इन चीजोंके विषयमें न तो इन्हें कोई रुचि है न ज्ञान, घसीटी हुई अविवेकपूर्ण सम्मतियोंको समान रूपसे महत्त्वपूर्ण समझनेको तैयार रहते हैं, और यहांतक कि ये पिछले प्रकारकी सम्मतियां ही हमारा ध्यान अधिक मात्रामें आकृष्ट करती हैं। अत-एव यह अब भी आवश्यक है कि उन बातोंको फिरसे दुहराया जाय तो एक प्रशिक्षित या संवेदनशील सौंदर्य-बुद्धि रखनेवालेके लिये प्रत्यक्ष होनेपर भी उस सामान्य मनुष्यके लिये अभी परिचित नहीं हैं जो अबतक अशिक्षित है या इन मिथ्या मूल्यों और मापदंडोंका आदी है। अपने स्वरूपके--अपने अतीत और वर्तमान स्वरूपके और उसके आधारपर अपने भावी स्वरूपके--सच्चे और भीतरी बोधको पुनः प्राप्त करनेका कार्य हमारी जातिके अधिकतर लोगोंके लिये अभी केवल अपनी आरंभिक अवस्थामें ही है।

अपनी प्राचीन कलाका सही मूल्य आंकनेके लिये हमें विदेशी दृष्टिकोणकी समस्त दासतासे अपने-आपको मुक्त करना होगा और, जैसा कि पहले मैं अपनी स्थापत्य-कलाके बारेमें संकेत

---

[1]उदाहरणार्थ, हमें अब भी एक ऐसी "समालोचना" पढ़कर निराश और स्तंभित रह जाना पड़ता है जिसमें कहा गया है कि रविवर्मा और अवनींद्रनाथ ठाकुर भिन्न-भिन्न शैलियोंके पर समान शक्ति और प्रतिभावाले कलाकार हैं!

कर चुका हूं, हमें अपनी भास्करकला एवं चित्रकलाको उसके अपने गंभीर उद्देश्य एवं उसके मूलभावकी महानताके प्रकाशमें देखना होगा। जब हम इसपर इस प्रकार दृष्टि डालेंगे तब हम यह देख पायेंगे कि प्राचीन और मध्ययुगीन भारतकी मूर्तिकला कलात्मक उपलब्धिके अति उच्चतम स्तरोंपर स्थान पानेका दावा करती है। मुझे मालूम नहीं कि कहां हमें कोई ऐसी मूर्तिकला मिलेगी जिसका उद्देश्य इससे अधिक गंभीर हो, भाव अधिक महान् हो, कार्य संपन्न करनेका कौशल अधिक सुसमंजस हो। हां, हीन कोटिकी रचना भी देखनेमें आती है, ऐसी रचना जो असफल हो गयी है या केवल कुछ अंशमें ही सफल हुई है, पर इस कलाको यदि इसके समूचे रूपमें लें, इसके उत्कर्षकी चिरस्थायितामें, इसकी सर्वोत्कृष्ट कृतियोंकी संख्यामें और इसकी उस शक्तिमें इसे देखें जिसके साथ यह एक जातिकी आत्मा और मनको व्यक्त करती है तो हम आगे बढ़कर इसके लिये प्रथम स्थानका दावा करनेके लिये लालायित होंगे। निःसंदेह, मूर्ति-शिल्प केवल प्राचीन देशोंमें ही अत्यधिक फूला-फला है जहां इसकी परिकल्पना इसकी स्वाभाविक पृष्ठ-भूमि एवं आधार, अर्थात् महान् वास्तु-कृतिके सहारे की गयी थी। मिस्र, यूनान और भारतको इस प्रकारकी रचनामें प्रथम स्थान प्राप्त है। मध्यकालीन और आधुनिक यूरोपने ऐसी निपुणता, प्रचुरता और विशालतावाली कोई भी चीज नहीं रची, जब कि उधर चित्रकारीमें परवर्ती यूरोपने बहुत कुछ किया है और वह भी समृद्ध रूपमें तथा दीर्घकाल-व्यापी और नित-नूतन अंतःप्रेरणाके साथ। विभेद उत्पन्न होनेका कारण यह है कि ये दो कलाएं भिन्न-भिन्न प्रकारकी मनोवृत्तिकी अपेक्षा करती हैं। जिस साधन-सामग्रीसे हम काम करते हैं वह सर्जनशील आत्मासे अपनी विशेष मांग करती है, अपनी स्वाभाविक शर्तें रखती है, जैसा कि रस्किनने एक भिन्न प्रसंगमें निर्देश किया है, पत्थर या कांसेसे मूर्ति बनानेकी कला मनकी ऐसी बनावटकी मांग करती है जो प्राचीन लोगोंमें थी पर आधुनिक लोगोंमें नहीं है या फिर उनमेंसे विरले व्यक्तियोंमें ही पायी जाती है, वह एक ऐसे कलात्मक मनकी मांग करती है जो न तो अत्यंत वेगपूर्वक चलनेवाला हो और न अपने भावमें आसक्त हो और न अपने व्यक्तित्व एवं भावावेशके तथा उत्तेजित करके विलुप्त हो जानेवाले स्पर्शोंके अत्यधिक वशमें ही हो, बल्कि सुनिश्चित विचार और अंतर्दर्शनके किसी महान् आधारपर प्रतिष्ठित हो, स्वभावमें स्थिर हो, अपनी कल्पनामें उन्हीं चीजोंपर एकाग्र हो जो दृढ़ और स्थायी हैं। इस अधिक कठोर उपादानसे मनुष्य आसानीसे अपनी इच्छानुसार खेलवाड़ नहीं कर सकता, वह इन चीजोंमें केवल श्री-शोभा एवं बाह्य सौंदर्य या अधिक स्थूल, चंचल और हलके रूपमें आकर्षक उद्देश्योंके लिये चिरकालतक या सुरक्षित रूपमें रत भी नहीं रह सकता। सौंदर्यात्मक स्व-तुष्टि जिसके लिये रंगकी आंतर भावना हमें स्वीकृति देती है तथा आमंत्रिततक करती है, जीवनकी उस चंचल क्रीड़ाका आकर्षण जिसके लिये तूली, लेखनी या रंगकी रेखा स्वतंत्रता प्रदान करती है--ये दोनों यहां निषिद्ध हैं, अथवा यदि किसी हदतक इन्हें चरितार्थ किया भी जाय तो केवल

एक सीमारेखाके भीतर ही जिसे पार करना खतरनाक और शीघ्र ही विनाशकारी होता है। यहां तो कृतिके आधारके रूपमें आवश्यकता है महान् या गंभीर उद्देश्योंकी, एक कम या अधिक गहराईमें पैठनेवाली आध्यात्मिक दृष्टि या शाश्वत वस्तुओंकी किसी अनुभूतिकी। मूर्ति-शिल्प स्थितिशील, स्वयंपरिपूर्ण, अनिवार्यतः दृढ़, उदात्त या कठोर होता है और इसके लिये एक ऐसी सौंदर्य-भावनाकी अपेक्षा होती है जो इन गुणोंको धारण करनेमें समर्थ हो। इस आधारपर भी जीवनकी एक विशेष प्रकारकी गतिशीलता और रेखाकी एक कुशलतापूर्ण श्री-सुषमा अवश्य आ सकती है, परंतु वह यदि पूर्ण रूपसे उपादानके मूल धर्मका स्थान ले लेता है तो इसका अर्थ यह होता है कि बृहत् मूर्तिमें क्षुद्र मूर्तिकी भावना प्रविष्ट हो गयी है और तब हमें निश्चय हो जाना चाहिये कि हम अवनतिके निकट पहुंच रहे हैं। यूनानी मूर्तिकला इस दिशाका अनुसरण करती हुई फिडियसकी महानतासे प्रैक्सिटेलीज (Praxiteles) की सहज स्व-आसक्तिमेंसे गुजरकर अपने ह्रासकी अवस्थामें जा पहुंची। कुछ एक व्यक्तियों, एक ऐञ्जेलो (Angelo) या एक रोदैं (Rodin) के द्वारा निर्मित किसी महान् कृतिके होते हुए भी परवर्ती यूरोप मूर्तिकलामें अधिकतर असफल ही रहा है, क्योंकि उसने पत्थर और कांसेके साथ बाहरी रूपमें खिलवाड़ किया, इन्हें जीवनके चित्रणका एक माध्यम समझा पर गभीर दृष्टि या आध्यात्मिक प्रेरकभावका पर्याप्त आधार नहीं पा सका। इसके विपरीत, मिस्र और भारतमें मूर्तिकलाने सफल सृजनकी शक्तिको कई महान् युगोंतक सुरक्षित रखा: भारतमें जो प्राचीनतम कृति हालमें खोज निकाली गयी है वह ईसासे पूर्व पांचवीं सदीकी है और वह प्रायः पूर्णतया विकसित है एवं उसके पीछे और भी पहलेकी पूर्ण रचनाका इतिहास स्पष्ट रूपसे विद्यमान है, और किसी प्रकारका उच्च मूल्य रखनेवाली अत्यंत अर्वाचीन कृति हमारे अपने समयसे कुछ ही सदियां पहलेकी ठहरती है। मूर्तिकलाके क्षेत्रमें सर्वांगपूर्ण सृष्टिके दो सहस्र वर्षोंके सुनिश्चित इतिहासका होना किसी जातिके जीवनका एक असाधारण और महत्त्वपूर्ण तथ्य है।

भारतीय मूर्तिकलाकी इस महानता और अविच्छिन्न परंपराका कारण भारत जातिके धार्मिक और दार्शनिक मन तथा सौंदर्यात्मक मनके बीच घनिष्ठ संबंध ही है। हमारे युगसे कुछ काल पूर्वतक इसका बचे रहना उस दर्शन और धर्ममें विद्यमान प्राचीनपंथी मनकी गठनके बचे रहनेके कारण ही संभव हुआ, ऐसे मनकी जो सनातन वस्तुओंसे परिचित था, विराट् दृष्टि पानेमें समर्थ था और जिसके चिंतन और अवलोकनकी जड़ें अंतरात्माकी गहराइयोंमें, मानव आत्माकी अत्यंत अंतरंग, अर्थगर्भित और स्थायी अनुभूतियोंमें थीं। निःसंदेह, इस महानताकी भावना प्रस्तरगत यूनानी कृतिकी सीमित पूर्णता, उज्ज्वल श्रेष्ठता या प्राणिक सूक्ष्मता और भौतिक सुषमासे ठीक उलटे छोरकी है। और, क्योंकि मि. आर्चर और उसकी बिरादरीकी प्रिय चाल यूनानी आदर्शको निरंतर हमारे सामने ला खड़ा करना है, मानों मूर्तिकला या तो यूनानी मानकसे नियंत्रित होनी चाहिये या फिर वह कौड़ी काम-

की नहीं, अतएव इन दोनोंके भेदके आशयपर ध्यान देना भी अच्छा होगा। प्राचीनतर एवं अधिक पुरानी यूनानी शैलीमें कोई ऐसी चीज अवश्य थी जो मिस्र और पूर्वसे प्राप्त प्रथम सर्जनात्मक मूल प्रेरणाका स्मरण करानेवाले स्पर्शके समान प्रतीत होती है, परंतु वह प्रभुत्वपूर्ण विचार तो वहां पहलेसे ही विद्यमान है जिसने यूनानी सौंदर्यतत्त्वका रूप निश्चित किया और साथ ही जो यूरोपके परिवर्ती मनपर अपना अधिकार जमाये रहा है, अर्थात् आंतरिक सत्यकी किसी प्रकारकी अभिव्यक्तिको बाह्य प्रकृतिके आदर्श-अनुकरणके साथ संयुक्त करनेका संकल्प। जो रचना निष्पन्न की गयी उसकी उज्ज्वलता, सुन्दरता एवं उत्कृष्टता एक अत्यंत महत् और पूर्ण वस्तु थी, परंतु यह मानना निरर्थक है कि वही कलात्मक सृजनकी एकमात्र संभव पद्धति या उसका एकमात्र स्थायी और स्वाभाविक नियम है। उसकी उच्चतम महत्ता केवल तभीतक जीवित रही——और असलमें वह बहुत दीर्घकालतक नहीं जीवित रही——जबतक कि एक अत्यंत सूक्ष्म, समृद्ध या गभीर तो नहीं पर सुन्दर आध्यात्मिक संकेत, और श्रेष्ठता तथा सुषमाके बाह्य भौतिक सामंजस्यके बीच एक विशेष प्रकारका संतोषकारक संतुलन साधित करके उसे निरंतर सुरक्षित रखा गया। बादकी रचनाने इंद्रियोंके सांचेमें सौंदर्यकी आत्माको प्रकट करनेकी एक विशेष शक्तिके साथ प्राणिक संकेत और ऐंद्रिय भौतिक सौंदर्यका एक क्षणिक चमत्कार साधित किया; किंतु एक बार ऐसा कर लेनेपर, देखने या सृजन करनेके लिये और कुछ भी नहीं रहा। कारण, वह विचित्र प्रवृत्ति जो आज आधुनिक मनको इस बातके लिये प्रेरित करती है कि वह अतिरंजित यथार्थवादकी, जो वस्तुतः जीवन और जड़तत्त्वमें विद्यमान आत्माके रहस्यको प्रकाशित करनेके लिये वस्तुओंके आकारपर डाला जानेवाला दबाव ही है, मिथ्या कल्पनाके द्वारा आध्यात्मिक दृष्टिकी ओर लौटे, प्राचीन स्वभाव और बुद्धिके लिये सुलभ नहीं थी। और निश्चय ही हमारे लिये अब यह देखनेका समय आ गया है, जैसा कि आज बहुतेरे लोग स्वीकार करते हैं कि ग्रीक कलाकी महत्ताको उसके अपने क्षेत्रमें मान्यता देना उस क्षेत्रकी अपेक्षाकृत संकीर्ण और संकुचित सीमाओंको स्पष्ट रूपसे अनुभव करनेमें बाधक नहीं होना चाहिये। जो कुछ ग्रीक मूर्तिकलाने व्यक्त किया वह सुंदर, श्रेष्ठ और महान् था, किंतु जो कुछ उसने व्यक्त नहीं किया और जिसके लिये वह, अपने नियम-विधानकी सीमाओंके कारण, प्रयत्न करनेकी आशा भी नहीं कर सकती थी वह बहुत-कुछ था, संभावनाकी दृष्टिसे अति महान् था, एक ऐसा आध्यात्मिक गांभीर्य एवं विस्तार था जिसकी मानव मनको अपने विस्तीर्णतर और गभीरतर आत्मानुभवके लिये आवश्यकता होती है। और ठीक यही भारतीय मूर्तिशिल्पकी महानता है कि वह पत्थर और कांसेपर उस चीजको व्यक्त करता है जिसकी ग्रीक सौंदर्यात्मक मन कल्पना ही न कर सका या जिसे प्रकट ही न कर सका, और उसे वह उसकी समुचित अवस्थाओं और स्वाभाविक पूर्णताकी गहरी समझके साथ मूर्त रूप प्रदान करता है।

भारतका प्राचीनतर मूर्त्तिशिल्प उसी चीजको दृश्यमान रूपमें मूर्त्तिमान करता है जिसे उपनिषदोंने अंतःप्रेरित विचारके रूपमें व्यक्त किया था और महाभारत तथा रामायणने जीवनके अंदर शब्दके द्वारा अंकित किया था। भारतीय गृह-शिल्पके समान यह मूर्ति-शिल्प भी आध्यात्मिक अनुभूतिसे उद्भूत होता है, और अपने महत्तम रूपमें यह जिस चीज-का सृजन एवं अभिव्यंजन करता है वह है—रूपके अंदर विराजमान आत्मा, देहमें स्थित अंत-रात्मा, दिव्य या मानव सत्तामें विद्यमान कोई-न-कोई जीवंत आत्म-शक्ति, वैश्व एवं विराट् सत्ता जो संकेतमें वैयक्तिक रूप तो धारण कर लेती है पर उस व्यक्ति-भावमें खो नहीं जाती, निर्व्यक्तिक सत्ता जो व्यक्तित्वकी अत्यंत आग्रहपूर्ण क्रीड़ाको धारण नहीं करती, सनातनके स्थायी क्षण, अपने कार्यों और रचनाओंमें आत्माकी उपस्थिति, भावना, शक्ति और उसका शांत या शक्तिशाली आनंद। और समस्त कलाके ऊपर यह मूलभाव कुछ-न-कुछ छाया हुआ है तथा दृढ़ रूपसे विद्यमान है और जहां मूर्तिकारके मनपर इसका प्रभुत्व नहीं है वहां भी इसका संकेत मिलता है। और इसीलिये भारतकी वास्तुकलाकी भांति उसकी मूर्तिकला-की कृतिकी ओर भी हमें भिन्न प्रकारका मन, दृष्टि और प्रतिक्रियाकी एक भिन्न प्रकारकी शक्ति लेकर आना होगा, यूरोपकी अधिक बाह्य रूपमें काल्पनिक कलाकी अपेक्षा इसमें हमें देखनेके लिये अपने भीतर अधिक गहरे जाना होगा। फिडियस (Phidias) के ओलि-म्पस-पर्वतवासी ग्रीक देवता विशालीकृत और उन्नीत मानव सत्ताएं ही हैं जिन्हें निर्व्यक्तिक-ताकी एक प्रकारकी दिव्य शांति या विश्वभावापन्न **गुण**, दिव्य लक्षणके द्वारा अत्यंत मानवीय सीमासे रक्षित किया गया है; अन्य कृतियोंमें हम मानव आकृतिकी आदर्शीकृत सुन्दरताके रूपमें वीरों, मल्ल-योद्धाओं, सौंदर्यके नारी-रूप अवतारों, विचार, कार्य या भावावेगकी शांत एवं संयत मूर्तियोंको देखते हैं। भारतीय भास्कर-कलाके देवता वैश्व सत्ताएं हैं, किसी महान् आध्यात्मिक शक्ति, आध्यात्मिक विचार और क्रिया एवं अंतरतम चैत्य अर्थके साकार रूप हैं, मानवीय रूप तो इस आंतरात्मिक अर्थका वाहन, इसकी आत्म-अभिव्यक्तिका बाह्य साधन है; आकृतिमेंकी प्रत्येक वस्तुको, उसके द्वारा दिये हुए प्रत्येक सुयोगको, मुख, हाथ, अंगोंकी मुद्रा, देहकी समतोलता और विविध भंगिमाको तथा प्रत्येक सहायक वस्तुको आंत-रिक अर्थसे अनुप्राणित करना होगा, इसे प्रकट करनेमें सहायक बनना होगा, संपूर्ण संकेतके लयतालका निर्वाह करना होगा, और दूसरी ओर ऐसी हर एक चीजको दबा देना होगा जो इस उद्देश्यको विफल करे, विशेषकर उन सब चीजोंको दबा देना होगा जिनका अभिप्राय मानवीय आकृतिके महज प्राणिक या भौतिक, बाह्य या प्रत्यक्ष संकेतोंपर ही आग्रह करना हो। इस प्रकारकी रचनाका उद्देश्य आदर्श भौतिक या भाव-संबंधी सौंदर्य नहीं बल्कि वह निरतिशय आध्यात्मिक सौंदर्य या रहस्यार्थ है जिसे मानव आकृति व्यक्त करनेमें समर्थ हो। इसका विषय है हमारे अंदरकी दिव्य सत्ता, इसका विचार और रहस्य है एक ऐसा शरीर जिसे अंतरात्माका बाह्य रूप बना दिया गया हो। और इसीलिये इस कलाके सम्मुख उप-

स्थित होनेपर इतना ही काफी नहीं है कि हम इसपर नजर डालें और सौंदर्यात्मक दृष्टि और कल्पना-शक्तिके द्वारा इसका प्रत्युत्तर दें, बल्कि हमें आकृतिके अंदर उस चीजकी भी खोज करनी होगी जिसे वह अपनेमें धारण किये हुई है और उसके द्वारा तथा उसके पीछे उस गभीर संकेतका भी अनुसरण करना होगा जो वह अपने असीम स्वरूपके अंदर प्रदान करती है। भारतीय मूर्तिशिल्पका धार्मिक या प्राचीन परंपरागत पक्ष भारतीय ध्यान और उपासनाके आध्यात्मिक अनुभवोंके साथ घनिष्ठ रूपमें संबद्ध है,--ये अनुभव हमारे आत्मान्वेषणकी वे गंभीर वस्तुएं हैं जिन्हें हमारा आलोचक घृणापूर्वक योग-संबंधी भ्रम कहता है,--आत्माकी अनुभूति ही इसकी सृजनकी विधि है और आत्माकी अनुभूति ही प्रतिक्रिया करने और समझनेका हमारा तरीका भी अवश्य होनी चाहिये। और मानव सत्ताओं या समुदायोंकी आकृतियोंमें भी इसी प्रकारका आंतरिक लक्ष्य एवं अंतर्दृष्टि ही मूर्तिकारके श्रमका परिचालन करती है। किसी राजा या साधुकी प्रतिमा हमें किसी राजा या साधुके रूपकी परिकल्पना प्रदान करने या किसी नाटकीय कार्यका चित्रण करने या पत्थरपर खुदी हुई किसी विशेष चरित्रकी एक मूर्त्ति बननेके लिये ही अभिप्रेत नहीं होती वरंच वह किसी आत्मिक अवस्था या अनुभूति अथवा किसी अधिक गहरे आत्मिक गुणको, उदाहरणार्थ, आराध्य देवताके सामने संत या भक्तमें होनेवाले बाह्य भावावेशको नहीं वरन् भक्ति और ईश्वर-दर्शनके भाव-गद्‌गद परानंदके अंतरीय आत्मिक पक्षको साकार रूप देनेके लिये भी अभिप्रेत होती है। भारतीय मूर्तिकारने अपने पुरुषार्थके सामने जो कार्य रखा उसका स्वरूप यही है और इसमें मिलनेवाली उसकी सफलताके द्वारा ही, न कि किसी अन्य वस्तुके, अर्थात् उसके मनके लिये विजातीय तथा उसकी योजनाके प्रतिकूल किसी गुण या किसी उद्देश्यके अभावके द्वारा, हमें उसके कृतित्व और पुरुषार्थके बारेमें अपना मत स्थिर करना चाहिये।

एक बार जब हम इस मानकको स्वीकार कर लेते हैं तब इसकी अवस्थाओंकी उस गहरी समझके बारेमें जो भारतीय भास्करकलामें विकसित की गयी तथा उस कौशलके संबंधमें जिसके साथ इसके कार्यका संपादन किया गया या इसकी सर्वोत्कृष्ट रचनाओंकी पूर्ण गरिमा और श्री-सुषमाके विषयमें जितना भी कहा जाय उतना ही थोड़ा है। महान् बुद्धोंको ही लो--गांधार शैलीकी बुद्ध-मूर्त्तियोंको नहीं, बल्कि महान् गुहामंदिर या देवालयकी दैवी मूर्तियों या मूर्तिसमूहोंको, दक्षिणकी बादके कालकी सर्वोत्तम कांस्य-मूर्तियोंको जिन चित्रोंका मि. गांगुलिकी इस विषयकी पुस्तकमें एक अद्‌भुत संग्रह है, 'कालसंहार' शिवकी मूर्ति एवं नटराजकी मूर्तियोंको लो। परिकल्पना या कार्यान्वितिकी दृष्टिसे इनसे अधिक महान् या अधिक सुंदर कोई भी कृति मानवीय हाथोंने कभी नहीं बनायी और एक आध्यात्मिक सौंदर्य-दृष्टिका अनुसरण करनेसे इसकी महत्तामें चार चांद लग गये हैं। बुद्धकी प्रतिमूर्ति एक सांत प्रतिमामें अनंतको सफलताके साथ अभिव्यक्त करती है, और निश्चय ही मानवीय आकार एवं मुखमंडलमें निर्वाणकी असीम शांतिको मूर्तिमंत करना कोई निकृष्ट या बर्बर

प्राप्ति नहीं है। कालसंहार शिव केवल अपने उस महातेज, शक्ति, शांतिमय और सामर्थ्यशाली नियंत्रण तथा सत्ताकी उस गौरव-गरिमा और राज-महिमाके कारण ही सर्वोच्च नहीं हैं जिसे आकृतिकी संपूर्ण भाव-भंगिमा प्रत्यक्ष रूपमें मूर्तिमन्त करती है,--यह तो इसकी सफलताका केवल आधा या आधेसे भी कम हिस्सा है,--बल्कि इससे कहीं अधिक वे काल और सत्तापर आध्यात्मिक विजयके उस प्रगाढ़ दिव्य आवेगके कारण परमोच्च हैं जिसे कलाकार आंख, भ्रुकुटि और मुख तथा प्रत्येक अंगमें भर देनेमें सफल हुआ है और जिसे उसने देवताके विग्रहके प्रत्येक अंगके अंतर्निहित, भाविक नहीं वरन् आध्यात्मिक, संकेतके तथा अपने आशयकी उस लयके द्वारा सूक्ष्म रूपसे संपुष्ट किया है जो उसने इस कृतिकी समग्र एकताके द्वारा उंडेल दी है। अथवा शिवके नृत्यकी वैश्व गतिविधि एवं विराट् आनंदको अभिव्यक्त करनेमें जो अद्‌भुत प्रतिभा और निपुणता देखनेमें आती है उसके, रहस्यार्थके लयतालको व्यक्त करनेके लिये जिस सफलताके साथ प्रत्येक अंगकी मुद्रा प्रदर्शित की गयी है उसके, स्वयं गतिकी उल्लासपूर्ण तीव्रता और स्वच्छंदता और फिर भी इसकी तीव्रताकी समुचित संयतताके तथा इन सिद्धहस्त मूर्तिकारोंकी हृदयग्राही परिकल्पनामें एक ही विषयके प्रत्येक अंगके सूक्ष्म भेद-प्रभेदके बारेमें क्या कहा जायगा? महान् मंदिरोंमें सुरक्षित या समयके विनाशसे बची हुई एक-एक मूर्ति उसी महान् परंपरागत कलाको और उस परंपरा तथा उसकी अनेक शैलियोंमें कार्य करनेवाली प्रतिभाको, गभीर और सुगृहीत आध्यात्मिक विचारको और प्रत्येक मोड़, रेखा एवं संघातमें, हाथ और अंग-अंगमें, सांकेतिक भाव-भंगी और व्यंजक लयतालमें उस विचारकी सतत अभिव्यक्तिको द्योतित करती है,--यह एक ऐसी कला है जिसे इसकी अपनी भावनामें समझनेपर, अन्य किसी कलाके साथ किसी प्रकारकी तुलनासे डरनेकी जरूरत नहीं, भले ही वह कला प्राचीन हो या आधुनिक, यूनानी हो या मिस्री, निकट या सुदूर पूर्वकी हो या पश्चिमके किसी भी सर्जनशील युगकी। यह मूर्तिकला अनेक परिवर्तनोंमेंसे गुजरी; सर्वप्रथम, असाधारण गरिमा और अति महत् शक्तिसे संपन्न प्राचीनतर कला जो उसी भावनासे उन्नीत है जिसका प्रभुत्व वैदिक और वैदांतिक ऋषियों तथा महाकवियोंपर था, उसके बाद श्री-सुषमा और आनंदोल्लासकी ओर पुराणकालीन प्रवृत्ति, तथा भावप्रधान उन्मादना और गतिविधिका आविर्भाव, और अंतमें एक द्रुत और शून्यतामय ह्रास; परंतु इनमेंसे दूसरी अवस्थामें भी आदिसे अंततक मूर्तिकलाके उद्देश्यकी गभीरता और महानता कृतिको सहारा देती और संजीवित करती है और स्वयं ह्रासोन्मुख प्रवृत्तिमें भी इसका कुछ अंश पूर्ण अधोगति, रिक्तता या सारहीनतासे उद्धार करनेके लिये प्रायः ही बचा रहता है।

तो अब हम यह देखें कि भारतीय मूर्तिशिल्पकी भावना और शैलीपर जो आक्षेप किये गये हैं उनका मूल्य क्या है। उस छिद्रान्वेषीकी निंदाओंका तात्पर्य यही है कि उसका अपनेआपसे बंधा हुआ यूरोपीय मन संपूर्ण वस्तुको बर्बर, निरर्थक, कुत्सित, विचित्र, किंभूत-किमाकार अनुभव करता है, एक ऐसी विकृत कल्पनाकी कृति अनुभव करता है जो अप्रिय

अवास्तविकताओंके दुःस्वप्नके बीच कशमकश कर रही है। अब, हमारे सामने जो कृतियां बच रही हैं उन सबमें ऐसी भी हैं जो कम अंतःप्रेरित हैं अथवा ऐसी भी हैं जो खराब, अतिरंजित, कृत्रिम या भद्दी हैं और जिनमें प्रतिभाहीन कारीगरोंकी रचना अज्ञातनामा महान् कलाकारोंकी कृतिमें मिली हुई है, और जो आंख उन कृतियोंके आशय और उनकी पहली शर्तोंको, जातिके मन या उसकी विशिष्ट प्रकारकी सौंदर्य-भावनाको नहीं समझती, वह उत्तम और हीन कोटिकी क्रियान्वितियोंमें, ह्रासकालकी कृति और सिद्धहस्त कलाकारों तथा महान् युगोंकी कृतिमें भेद करनेमें सहज ही असफल हो सकती है। परंतु इस आलोचनाको यदि एक सर्वसामान्य वर्णनके रूपमें प्रयुक्त किया जाय तो यह अपने-आपमें ही एक अपरूप और विकृत वस्तु है और इसका केवल इतना ही अर्थ है कि यहां ऐसी धारणाएं और व्यक्त करनेवाली कल्पना है जो पश्चिमी बुद्धिके लिये अपरिचित हैं। भारतीय सौंदर्य-बुद्धि जैसी रेखा, प्रवाह और आकारकी मांग करती है वे वही नहीं हैं जिनकी मांग यूरोपीय सौंदर्य-बुद्धि करती है। इस भेदकी, जिसे हम मूर्तिकलामें ही नहीं वरन् अन्यान्य रूप निर्माण करनेवाली कलाओं (Plastic arts) में तथा संगीत और यहांतक कि कुछ हदतक साहित्यमें भी पाते हैं, विस्तारके साथ छानबीन करनेमें बहुत समय लगेगा, पर मोटे तौरपर हम कह सकते हैं कि भारतीय मन आध्यात्मिक संवेदनशीलता और आंतरात्मिक जिज्ञासाकी प्रताड़नाके वश गति करता है जब कि यूरोपीय प्रकृतिमें निहित सौंदर्य-जिज्ञासा इस अर्थमें बौद्धिक, प्राणिक, भाविक और कल्पनामूलक है, और रेखा एवं संपूर्ण आकार, अलंकार, अनुपात और ताल-छंदके भारतीय प्रयोगकी प्रायः संपूर्ण विचित्रता इसी भेदसे उत्पन्न होती है। ये दोनों मन प्रायः भिन्न-भिन्न जगतोंमें निवास करते हैं, या तो वे एक ही वस्तुको नहीं देखते या, जहां उनका विषय एक होता है वहां भी वे उसपर भिन्न स्तरपरसे या भिन्न वातावरणसे घिरे रहकर दृष्टि डालते हैं, और यह तो हम जानते ही हैं कि दृष्टिके आधार-बिंदु या माध्यममें विषयको बदल डालनेकी कितनी शक्ति होती है। निःसंदेह, मि. आर्चरकी इस शिकायतके लिये अत्यंत विपुल आधार विद्यमान है कि अधिकांश भारतीय मूर्तिशिल्पमें प्रकृतिवादका अभाव है। स्पष्टतः ही, अनुप्रेरणा एवं देखनेका तरीका प्रकृतिवादी नहीं है, अर्थात् वह स्थूल या पार्थिव प्रकृतिका सजीव, विश्वासजनक और यथार्थ, श्री-सुषमामय, सुंदर या सशक्त, अथवा यहांतक कि आदर्शीभूत या कल्पनामूलक अनुकरण नहीं है। भारतीय मूर्तिकारका काम आध्यात्मिक अनुभवों और धारणाओंको साकार रूप देना है न कि स्थूल इंद्रियोंसे गृहीत वस्तुका चित्रांकन या स्तवन करना। वह अपना काम पार्थिव एवं भौतिक वस्तुओंसे मिलनेवाले सुझावोंसे आरंभ कर सकता है, परंतु अपनी कृतिका सृजन तो वह उसके बाद ही कर पाता है जब कि वह भौतिक परिस्थितियोंके आग्रहकी उपेक्षा करके उन वस्तुओंको आंतरात्मिक स्मृतिमें देख लेता है और उन्हें अपने अंदर इस प्रकार रूपांतरित कर डालता है कि उनके स्थूल सत्य या प्राणिक एवं बौद्धिक अर्थसे भिन्न

किसी अन्य वस्तुको प्रकाशमें लाया जा सके। उसकी आंख पदार्थोंकी आंतरात्मिक रेखा और आकार देखती है और भौतिक आकारके स्थानपर वह उन्हींका प्रयोग करता है। इसमें कुछ आश्चर्य नहीं कि इस प्रकारकी पद्धति ऐसे परिणाम उत्पन्न करे जो सामान्य पश्चिमी मन एवं दृष्टिके लिये, जब कि ये (मन और दृष्टि) विशाल और सहानुभूतिपूर्ण संस्कृतिके द्वारा अभी मुक्त नहीं हुए हैं, अपरिचित हों। और जो चीज हमारे लिये अपरिचित होती है वह स्वभावतः ही हमारे अभ्यासबद्ध मनके लिये अरुचिकर और हमारी अभ्यासबद्ध इंद्रियके लिये भद्दी तथा हमारी कल्पनाशील परंपरा एवं सौंदर्यात्मक प्रशिक्षाके लिये विचित्र होती है। हम वही चीज चाहते हैं जो आंखके लिये परिचित और कल्पना-शक्तिके लिये स्पष्ट हो और इस बातको हम सहज ही स्वीकार नहीं करेंगे कि जिस सौंदर्यके वृत्तमें रहने और आनंद लेनेके हम अभ्यासी हैं उससे अन्य प्रकारका और शायद अधिक महान् सौंदर्य भी यहां हो सकता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि विशेष रूपसे इस आंतरात्मिक दृष्टिको मानव आकृतिपर प्रयुक्त करना ही भारतीय मूर्तिकलाके इन आलोचकोंके रोषका कारण है। देव-देवियोंकी मूर्तियोंमें भुजाओंकी संख्या बढ़ाने, जैसे, शिवकी चार, छः, आठ या दस भुजाएं एवं दुर्गाकी अठारह भुजाएं बनाने आदि विशेषताओंके बारेमें सामान्यतः ही आक्षेप किया जाता है, क्योंकि ये एक अस्वाभाविक वस्तु हैं, ऐसी वस्तु हैं जो प्रकृतिमें नहीं पायी जाती। अब, इसमें संदेह नहीं कि किसी मनुष्य या स्त्रीके चित्रणमें कल्पनाकी इस प्रकारकी क्रीड़ा अनुपयुक्त होगी, क्योंकि वहां इसका कोई कलात्मक या अन्य प्रयोजन नहीं होगा, पर मैं यह नहीं समझता कि भारतीय देवताओं जैसी वैश्व सत्ताओंकी मूर्ति बनानेमें इस प्रकारकी स्वतंत्रताका निषेध क्यों किया जाय। सारा प्रश्न यह है कि, सर्वप्रथम, क्या यह उस गूढ़ार्थको व्यक्त करनेका उपयुक्त साधन है जिसे और किसी तरह इतने बल और प्रभावके साथ प्रकट नहीं किया जा सकता और, दूसरे, क्या यह कलात्मक चित्रण करनेमें समर्थ है और क्या यह एक ऐसे कलात्मक सत्य एवं एकत्वका लयताल है जिसके लिये यह जरूरी नहीं कि वह भौतिक प्रकृतिका लयताल भी हो। यदि ऐसी बात नहीं है तो यह एक कुरूपता और उग्रता है, पर यदि ये शर्तें पूरी होती हैं तो ये साधन न्यायोचित हैं और मैं नहीं समझता कि, कृतिकी पूर्णताके सम्मुख, हमें कोई असंगत हो-हल्ला मचानेका अधिकार है। स्वयं मि. आर्चर कौशल और निपुणताकी उस पूर्णतासे प्रभावित हैं जिसके साथ इन अवयवोंका, जो उनकी दृष्टिमें निरर्थक हैं, नृत्यरत शिवकी मूर्तियोंमें विन्यास किया गया है, और निःसंदेह ऐसी अंधी आंख तो हो ही नहीं सकती जो इतना भी न देख सके, परंतु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु है वह कलागत अर्थ जिसे व्यक्त करनेके लिये इस कौशलका प्रयोग किया जाता है, और यदि उसे समझ लिया जाय तो हम तुरंत देख सकते हैं कि शिवके विश्व-नृत्यका आध्यात्मिक भावोद्रेक एवं उसके संकेत इस युक्तिके द्वारा इस प्रकार प्रकाशमें लाये जाते हैं जिस प्रकार कि दो बाहुओंवाली मूर्तिसे

नहीं लाये जा सकते। यही सत्य अठारह भुजाओंसे युक्त असुरसंहारिणी दुर्गा या पल्लव-युगकी महान् कृतियोंके उन शिवोंके बारेमें भी लागू होता है जिनमें नटराजोंकी रसमय सुषमा तो नहीं है पर उसके स्थानपर एक महान् काव्योचित छंद-ताल तथा सौंदर्य है। कला अपने साधनोंको आप ही उचित ठहराती है और यहां वह यह कार्य परम पूर्णताके साथ करती है। और जहांतक कुछ मूर्तियोंके टेढ़े-मेढ़े (contorted) अंग-विन्यासोंका प्रश्न है, वहां भी यही नियम काम करता है। इस विषयमें प्रायः भौतिक शरीरके शरीर-शास्त्र-वर्णित आदर्श मानसे व्यतिक्रम पाया जाता है या फिर——और यह कुछ अधिक भिन्न बात है——अंगों या देहके असामान्य विन्यासपर कम या अधिक स्पष्ट रूपसे बल दिया जाता है, और तब प्रश्न यह है कि क्या यह बिना किसी अर्थ या प्रयोजनके किया जाता है, एक निरा भद्दापन या कुरूप अतिरंजन होता है, अथवा क्या यह असलमें किसी गूढार्थको प्रकट करनेमें सहायक है और प्रकृतिके सामान्य भौतिक छंद-मानके स्थानपर एक अन्य उद्देश्यपूर्ण और सफल कलात्मक लय-तालकी प्रतिष्ठा करता है। आखिर, कलाके लिये असामान्यसे संबंध रखने या प्रकृतिको बदल देने और लांघ जानेकी मनाही नहीं है, और प्रायः यहांतक कहा जा सकता है कि जबसे इसने मानव कल्पनाशक्तिकी सेवा आरंभ की है तबसे, अर्थात् अपने प्रथम विशाल और महाकाव्योचित अतिरंजनोंसे लेकर आधुनिक रूमानीवाद और यथार्थवाद-की उग्रताओंतक, वाल्मीकि और होमरके उच्च युगोंसे लेकर ह्यूगो और इब्सनके दिनतक यह इसके सिवा और कुछ नहीं करती रही है। साधनोंका भी महत्त्व होता है पर अर्थ तथा कृतिसे और उस शक्ति एवं सौंदर्यसे कम जिसके साथ यह मानव आत्माके स्वप्नों और सत्योंको प्रकट करती है।

भारतीय कलाने मानव आकृतिका जैसा चित्रण किया है उसके संपूर्ण प्रश्नको इसके सौंदर्यात्मक उद्देश्यके प्रकाशमें समझना चाहिये। यह एक विशेष उद्देश्य और आदर्श तथा एक सामान्य नियम एवं मानदंडके साथ कार्य करती है जो बहुतसे भेद-विभेदोंके लिये अवकाश देता है और जिससे कुछ ऐसे व्यतिक्रम भी देखनेमें आते हैं जो उचित ही हैं। जिन विशे-षणोंसे मि. आर्चर इसकी विशेषताओंकी निंदा करनेकी चेष्टा करते हैं वे मूर्खतापूर्ण, छिद्रा-न्वेषी और अतिरंजित हैं, एक ऐसे पत्रकारके अस्वाभाविक शब्द हैं जो एक सर्वथा बुद्धि-संगत, मनोरम और सौंदर्यबोधात्मक मानदंडका, जिसके साथ उसे सहानुभूति नहीं है, मूल्य कम करनेका यत्न कर रहा है। यहां बाजके-से चेहरों, ततैयेकी-सी कमरों, पतली टांगों तथा क्रोधपूर्ण व्यंग-चित्रकी अन्य विशेषताओंकी आवृत्तिसे भिन्न और ही चीजें हैं। वे मि. हॉवेलके इस संकेतपर संदेह करते हैं कि इन प्राचीन भारतीय कलाकारोंको शरीरकी रचनाका काफी अच्छा ज्ञान था,——जैसा कि भारतीय विज्ञान इसे जानता ही था,——पर इन्होंने अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिये इसका व्यतिक्रम करना पसंद किया। मुझे यह बात अधिक महत्त्वपूर्ण भी नहीं प्रतीत होती, क्योंकि कला शरीर-रचना-शास्त्र नहीं है, न यही

आवश्यक है कि कलाकी सर्वोत्कृष्ट कृति भौतिक तथ्यकी प्रतिकृति या पदार्थ-विज्ञानका एक पाठ ही हो। मुझे इस बातपर दुःख करनेका कोई कारण नहीं दीखता कि भारतीय कलाकारोंने मांसपेशियों और धड़की आकृतियों आदिका सफल अध्ययन नहीं किया था, क्योंकि मैं नहीं मान सकता कि अपने-आपमें इन चीजोंका कोई वास्तविक कलात्मक मूल्य है। एकमात्र महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भारतीय कलाकारके मनमें अनुपात और लय-तालकी पूर्ण धारणा थी और कुछ शैलियोंमें उसने उनका प्रयोग उत्कृष्टता और ओजस्विता-के साथ किया, कुछ अन्य शैलियोंमें, जैसे, जावाकी या गौड़ (Gauda) देश या दक्षिणकी कांसेकी मूर्त्तियोंमें उनका प्रयोग उसी गुणके साथ या उसमें पूर्ण श्री-सुषमा और प्रायः एक तीव्र और रसमय माधुर्यका भी पुट देकर किया। भारतकी श्रेष्ठ मूर्त्तियोंमें मानव आकृति-की जो महत्ता और सुषमा प्रकट की गयी है उससे बढ़कर कोई रचना की ही नहीं जा सकती। परंतु जिस चीजकी खोज की गयी और जो चीज प्राप्त की गयी वह बाह्य प्रकृतिवादी नहीं बल्कि आध्यात्मिक और आंतरात्मिक सुन्दरता थी, और इसे उपलब्ध करने-के लिये मूर्त्तिकारने बलात् आ घुसनेवाले भौतिक ब्योरेको दबा दिया,—और उसका यह कार्य बिलकुल ठीक ही था,—तथा उसके स्थानपर उसने रूप-रेखाकी शुद्धता और आकृति-की सुन्दरताको ही अपना लक्ष्य बनाया। और उस रूप-रेखा तथा उस शुद्धता एवं सुन्दरता-के भीतर वह ऐसी किसी भी चीजको जिसे वह पसंद करता था, अर्थात् शक्तिके पुंज या सुषमाकी कोमलताको, स्थाणु महिमा या महत् शक्ति, या गतिकी नियंत्रित उग्रताको अथवा ऐसी किसी भी चीजको जो उसके आशयकी पूर्ति या सहायता करती थी, मूर्तिमंत करनेमें समर्थ हुआ। एक दिव्य और सूक्ष्म शरीर उसका आदर्श था; और एक ऐसे व्यक्तिके लिये जिसकी रुचि और कल्पना इतनी कुंद या यथार्थवादी हैं कि वह भारतीय मूर्तिकारके विचारकी सत्यता और सुन्दरताको कल्पनामें भी नहीं ला सकता, स्वयं यह आदर्श ही एक प्रतिबंधक और दोषपूर्ण वस्तु हो सकता है। परंतु कलाकी विजयें प्राकृत यथार्थवादी मनुष्य-की संकीर्ण पूर्वधारणाओंके द्वारा सीमित नहीं की जा सकतीं; विजयी और चिरस्थायी तो वही चीज होती है जो श्रेष्ठ जनोंको अपील करती है, **साधुसम्मतम्**, सर्वाधिक गंभीर और महान् वस्तु तो वही होती है जो गभीरतम आत्माओं तथा अत्यंत संवेदनशील आंतरात्मिक कल्पनाओंको तृप्त करती है।

प्रत्येक ढंगकी कलाके अपने आदर्श, अपनी परंपराएं और स्वीकृत प्रथाएं होती हैं; क्योंकि सर्जनशील आत्माके विचार और रूप अनेक होते हैं, यद्यपि अंतिम आधार एक ही होता है। चीन और जापानके चित्रकारोंका दृष्टिक्षेत्र तथा उनकी आंतरात्मिक दृष्टि वही नहीं हैं जो यूरोपके कलाकारोंकी हैं; परंतु उनकी कृतिके सौंदर्य और चमत्कारकी अवज्ञा कौन कर सकता है? मैं साहसपूर्वक कह सकता हूं कि मि. आर्चर एक पुलिस

'कांस्टेबल' या एक 'टर्नर' (कलाबाज)[1] के चित्रको सुदूर पूर्वकी कृतियोंकी संपूर्ण राशिके ऊपर स्थान देंगे, जैसे मैं स्वयं, यदि मुझे चुनाव करना पड़े, चीन या जापानके किसी दृश्य-के या प्रकृतिके किसी अन्य चमत्कारी रूपांतरके चित्रको अन्य सबसे अच्छा समझकर चुनूंगा; परंतु ये व्यक्तिगत, राष्ट्रीय या महाद्वीपीय स्वभाव और अभिरुचिकी बातें ठहरीं! प्रश्नका मर्म तो है आत्माके द्वारा अधिगत सत्य और सौंदर्यकी अभिव्यक्ति करना। भारतीय मूर्ति-कला, सामान्य रूपसे भारतकी समस्त ही कला अपने निजी आदर्श और अपनी निजी परंपराओंका अनुसरण करती है और ये अपने गुण और स्वरूपमें अद्वितीय हैं। यह एक ऐसी अभिव्यक्ति है जो सृजनकी अनेक शताब्दियों और युगोंमें बराबर ही, कुल मिलाकर महान् रही है और अपने सर्वोत्कृष्ट कालमें परमोच्च भी, चाहे वह विरली, प्राचीन, अशोकसे पहलेके समयकी कृतिके रूपमें हो या अशोकके समयकी या उससे पीछेकी प्रथम वीर-युगकी कृतिके रूपमें अथवा गुहा-मंदिरों और पल्लव-युगीय तथा अन्य दक्षिणी मंदिरों-की भव्य मूर्तियोंके या बादकी सदियोंमें बंगाल, नेपाल और जावाकी श्रेष्ठ, सर्वांगपूर्ण या श्री-सुषमामय कल्पनाओंके या दक्षिणी धर्मोंकी कांसेकी रचनाओंकी अपूर्व कुशलता और सुन्दरताके रूपमें; वह एक महान् जाति एवं महान् संस्कृतिकी भावना और आदर्शोंकी आत्म-अभिव्यक्ति है--ऐसी जातिकी जो अपने मन और गुणोंकी बनावटमें भूतलकी जातियोंके बीच अपना पृथक् अस्तित्व रखती है, जो अपनी आध्यात्मिक उपलब्धि, अपने गहरे दर्शनों और अपनी धार्मिक भावना, कलात्मक रुचि, तथा काव्यमय कल्पनाके वैभवके लिये सुवि-ख्यात है, और जो किसी समय अपने जीवन-संबंधी व्यवहारों, सामाजिक प्रयत्नों और राज-नीतिक संस्थाओंमें किसीसे कम नहीं थी। यह मूर्तिशिल्प प्रस्तर और कांसेपर उस जाति-की अंतरात्माकी एक अपूर्व-शक्तिशाली, हृदयग्राही और गंभीर व्याख्या है। वह जाति एवं संस्कृति एक दीर्घकालीन महानताके पश्चात् कुछ समयके लिये जीवनमें असफल हो गयी जैसे कि उससे पहले अन्य जातियां हुईं और जैसे कुछ अन्य जातियां भी जो अब फूल-फल रही हैं आगे चलकर होंगी; उसके मनकी रचनाओंकी गति रुक गयी है, अन्य कलाओं-की भांति यह मूर्तिकला भी लुप्त हो गयी है या अवनतिके गर्तमें जा गिरी है, परंतु वह चीज जिससे यह उद्भूत हुई, अर्थात् अंदरकी आध्यात्मिक अग्नि अभीतक जल रही है, और जो नवजागरण आ रहा है उसमें, संभावना है कि, यह महान् कला भी पुनरुज्जीवित हो उठेगी, इस श्रेणीकी आधुनिक पश्चिमी कृतिकी गंभीर न्यूनताओंके बोझके तले दबकर नहीं बल्कि प्राचीन आध्यात्मिक हेतुकी नयी प्रेरणा और शक्तिकी उच्चतासे उज्जीवित होकर।

---

[1] टर्नर (Turner) कलाबाज या व्यायामविशारदको कहते हैं, विशेष रूपसे उसको जो जर्मन व्यायाम संघ (German Turnvereine) का सदस्य हो जिसकी स्थापना एफ. एल. जान ने १८११ में की थी।--अनुवादक

पुराने रूपोंकी सीमामें न बंधते हुए, इतना ही नहीं बल्कि विजातीय मनके निरर्थक आक्षेपों-से विचलित न होते हुए इसे अपनी अतीत उपलब्धिके माहात्म्य और सौंदर्य एवं आभ्यं-तरिक मर्मकी अनुभूति पुनः प्राप्त करनी चाहिये; क्योंकि अपने आध्यात्मिक प्रयासको जारी रखनेमें ही इसके भविष्यके लिये सबसे उत्तम आशा निहित है।

अदिति की फाइलें

सन् ४४, ४५, ४६, ४९, ५०, ५१, ५२, ५३, ५४, ५५ की पूरी फाइलें प्राप्य हैं। दाम अजिल्द ६), सजिल्द ८)। सन् ४७ का ३रा और ४ था अंक। मूल्य प्रति अंक १॥)।

अन्य फाइलें

सन् ५१ और ५२ की भारत माता की फाइलें अर्चना विशेषांक सहित। प्रति फाइल ६)। सन् ४७, ४८, ४९ और ५० की 'अर्चना' की फाइलें प्राप्य हैं। मूल्य प्रति अंक ४॥)

हिन्दी में श्रीअरविन्द-साहित्य

★श्रीअरविन्दकृत पुस्तकें★

श्रीअरविंद—अपने तथा श्रीमां के विषय में (अदिति फाइल)	१०॥)
श्रीअरविन्द के पत्र (भाग १, २)	६), ३)
योग-समन्वय (भाग १)	३॥)
कर्मयोगी	२॥)
चार साधन	॥)
विचार और झांकियां	॥)
दयानन्द	॥)
दुर्गास्तोत्र	=)
गीताप्रबन्ध (भा. १, भा. २ खं. १)	६॥) ५)
माता	॥)
श्रीमां	२॥)
योगप्रदीप	१)
योग के आधार	२॥)
वेद-रहस्य (सजि.) खंड १, २, ३.	९), ४), ५)
वेद-रहस्य (अजिल्द) ,, ,,	८), ३), ४)
उत्तरपाड़ा अभिभाषण	।=)
इस जगत् की पहेली	१)
जगन्नाथ का रथ	॥)
श्रीअरविंद के पत्र (पत्नी के नाम)	॥)
हमारा योग और उसके उद्देश्य	॥)
ऋषि (अंगरेजी कविता का अनुवाद)	।=)
कतिपय संदेश	।)
धर्म और जातीयता	१॥)
गीता की भूमिका	२)
कठोपनिषद्	१)
पत्रावली	१)
भार. संस्कृतिका आधार (अदितिमें क्रमशः)	
मृतकों का वार्तालाप	॥)

★माताजीकृत पुस्तकें★

वार्षिक प्रार्थनाएं	।=)
मातृवाणी भाग १, २, ४	२), १), ।=)
सर्वोत्तम आविष्कार	।=)
सुन्दर कहानियां	१॥)
शिक्षा	१॥)
भविष्य की ओर	॥)
श्रीमाताजी के प्रवचन	१॥)
श्री माताजी की प्रार्थना	१॥)
आदर्श बालक	।)

★अन्य पुस्तकें★

श्रीअरविंद और उनके आश्रम का संदेश	॥)
पूर्णयोग	१॥)
योगदीक्षा	१)
योगविचार	२॥)
श्रीअरविंद का पूर्णयोग	॥)
श्रीअरविंद का महाप्रयाण	१)
श्रीअरविंद और उनका आश्रम १, २	१)
प्रकाश की ओर	॥)
श्रीअरविन्द की प्रेरणा	३)

★★मिलने के पते★★

★१. श्रीअरविन्दाश्रम, पांडिचेरी ★२. श्रीअरविन्दाश्रम, नई देहली

★३. श्रीअरविन्द बुक्स डिस्ट्रिब्यूशन एजंसी, प्राइवेट लि०,

३२, रैम्पर्ट रो, बंबई-१. १५, कालेज स्क्वेर, कलकत्ता-१२. ४१एन, कनाट सर्कस, नयी देहली.

